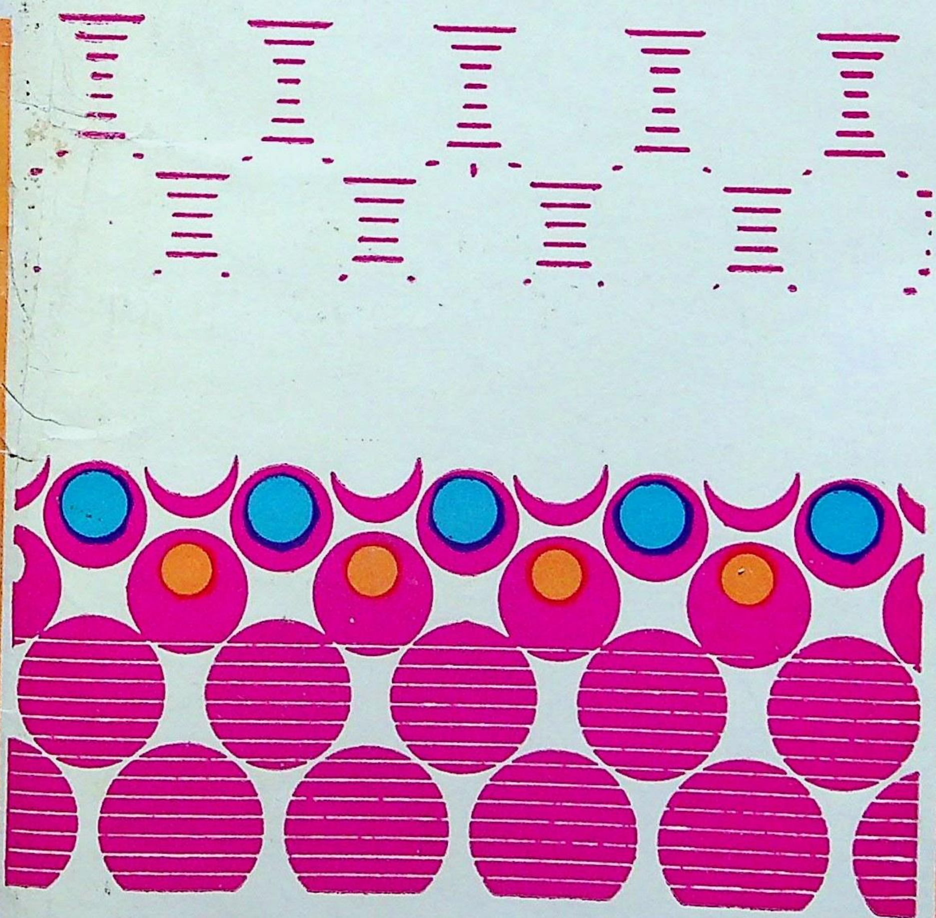
हमारा साहित्य



जे. एंड के.

अकादमी ऑफ आर्ट, कल्चर एंड लैंग्वेजिज़, जम्मू



हमारा साहित्य

1987

जम्मू : एक आंचलिक परिदृश्य

संपादक

डा० उषा व्यास



जे० एंड के०

अकादमी ऑफ आर्ट, कल्चर एंड लैंग्वेजिज

जम्मू



हमारा साहित्य—1987

(जम्मू : एक आंचलिक परिदृश्य)

जे० एंड के० अकादमी आफ आर्ट,
कल्चर एण्ड लैंग्वेजिज द्वारा
प्रकाशित

प्रथम संस्करण : 1990

मूल्य : 23/- रुपये

रोहिणी प्रिंटर्ज, कोट किशन चन्द,
जालन्धर शहर द्वारा मुद्रित

HAMARA SAHITYA 1987
Edited by : Dr. Usha Vyas

आमुख—

अपने प्रकाशनों की समृद्ध परम्परा में हम कालान्तर से जम्मू-कश्मीर राज्य की कला, संस्कृति तथा साहित्य के विविध आयाम उद्घाटित करते आये हैं। 1987 के 'हमारा साहित्य' का रूपबंध भी हमारे उन्हीं प्रयासों की एक शृंखला है। जम्मू प्रांत अपनी नैसर्गिक मनोहारिता, शौर्य, शिल्प तथा विशिष्ट संस्कृति का अनूठा संगुम्फन है। प्रस्तुत संकलन में हमने इसकी प्रांतीय आंचलिकता की कुछ विशिष्ट झांकियां सजायी हैं। उल्लेखनीय है कि एतद्‌विषयक उपयोगी सामग्री की अनुपलब्धता जिज्ञासुओं के समक्ष एक प्रश्न चिन्ह लगाती रही है। अतः हमारा यह प्रयास मात्र पुनरावृत्ति अथवा पुनरुक्ति न होकर ज्ञानोपार्जन की दिशा में रोशनी की एक और पगडंडी अवश्य है। इसके अन्य पक्षों को उजागर करते जो लेख समय पर उपलब्ध नहीं हो पाये उन्हें हम अपने आगामी प्रकाशनों में आप तक पहुंचाना चाहेंगे।

आशा है आपकी लाभान्वितता इसकी सार्थकता को रेखांकन देगी।

—संपादक

इस अंक में—

जम्मू : प्रांतीय भौगोलिकता

□ डा० सुखदेव सिंह चिब

जम्मू अपनी तीन इकाइयों (जम्मू, कश्मीर और लद्दाख) में से एक है। पीरपंचाल पर्वत श्रेणी से दक्षिण में स्थित होने के कारण न केवल इसका धरातल ही राज्य के शेष भागों से भिन्न हो जाता है अपितु इसकी मृदा, तापक्रम, वृष्टि, वानस्पतिक-पर्यावरण तथा भौगर्भिक संरचना भी भिन्न स्वरूप धारण कर लेते हैं। भौतिक तथा सांस्कृतिक दृष्टियों से भी जम्मू क्षेत्र एक पृथक् भौगोलिक इकाई है।
जाता है।

स्थिति—भारतवर्ष के मणि मुकुट का एक छोर जम्मू प्रदेश भूमध्य रेखा से सवा बतीस से सवा चौंतीस अंश उत्तर से एवं प्रधान मध्याह्न रेखा से साढ़े तिहत्तर अंश पूर्व से साढ़े छिहत्तर अंश पूर्व के बीच स्थित है। इस क्षेत्र के पश्चिम एवं दक्षिण पश्चिम में पाकिस्तान, उत्तर में कश्मीर घाटी, पूर्व में लद्दाख का लेह जनपद, दक्षिण में पंजाब और हिमाचल प्रदेश के राज्य स्थित हैं। यह क्षेत्र 26,089 वर्ग किलोमीटर क्षेत्रफल पर फैला हुआ है। इस का कुछ पश्चिमी भाग 'पाकाधिकृत कश्मीर' के अवैध कब्जे में है।

धरातल—बाह्य मैदानी प्रदेश, शिवालिक पर्वत श्रेणी तथा मध्य हिमालय पर्वत के तीन विभाग हैं, जिनमें जम्मू प्रदेश धरातल के अनुरूप विभक्त किया जाता है।

बाह्य मैदानी प्रदेश वास्तव में पंजाब के मैदान का ही प्रक्षिप्त भाग है। यह नदी निर्मित जलोढ़ मैदान है जो इस भाग में 'रावी' और 'चिनाब' नदियों तथा उनकी सहायक नदियों—उज्झ, बसंतर, देवक, जम्मू तवी, मनावर तवी आदि द्वारा लाई गई सामग्री के निक्षिप्त होने से बना है यह सात किलोमीटर से 32 कि० मी० तक चौड़ा है और इसकी औसत ऊंचाई सागर सतह से

325 से 350 मीटर तक है। इसका सर्वाधिक विस्तार अखनूर, रणबीरसिंह पुरा, साम्बा, हीरानगर और कठुआ तहसीलों में है। शिवालिक पहाड़ियों के एकदम दक्षिण में इसकी स्थिति के अनुरूप इस मैदानी भाग को कई नाले और खड्डें पार करती हैं। इन खड्डों और नालों में प्रायः वर्षा ऋतु में बाढ़ आ जाती है। परिणामतः कुछ भागों की मिट्टी लगभग प्रत्येक वर्ष बाढ़ों से नयी होती रहती है।

मैदानी भाग के उत्तर में बाह्य हिमालय अथवा शिवालिक पहाड़ियां स्थित हैं। 'शिवालिक' का शब्दिक अर्थ भगवान शिव का आवास कहा जाता है मुग़ल सम्राट बाबर ने सर्वप्रथम इस शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में अपने संस्मरणों में किया। रावी और जेहलम नदियों के बीच इन पहाड़ियों का विस्तार 200 कि० मी० तक पाया जाता है। यह उपमहाद्वीप के सब से सुन्दर पर्वत है। इनकी औसत चौड़ाई 20 से 50 कि०मी० तथा सागर सतह से ऊंचाई 600 से 1200 मीटर तक है। इसी पर्वतक्रम में मानसर और सरूईंसर झीलें स्थित हैं। इस भाग का पर्वत प्रदेश जहां एकदम ढलान में परिवर्तित होने से नदियां, खड्डें, नाले अपना खुरदरा भारी पदार्थ ढेर कर देते हैं, कंढी कहलाता है। यह भू-भाग बुरी तरह से कटा-फटा है और इस में कंकड़, रोड़े, पत्थरों आदि की भरमार है। शिवालिक पर्वतों और लघु हिमालय के बीच दून घाटियां पाई जाती हैं। बसोहली, रामकोट, डनसाल, कोटली, उधमपुर और संढरबनी ऐसी ही दून वादियां हैं।

पुंछ, राजोरी, डोडा और उधमपुर जनपद के कुछ भागों पर मध्य हिमालय अथवा लघु हिमालय का साम्राज्य है। इन का नाम पीर पंजाल (पीरपंचाल) भी है। पूर्वी भाग में यह पर्वत 60 कि० मी० चौड़े है पर जम्मू क्षेत्र के पश्चिमी भाग में मात्र 10 कि० मीटर चौड़े हैं। सागर तल से इनकी औसत ऊंचाई 1800 मीटर से 2500 मीटर तक है। जम्मू तवी, मनावर तवी, उज्झ, बसंतर आदि पीर पंचाल से ही निकलती हैं। इसी पर्वत क्रम में एक चूना-पत्थर निर्मित 'त्रिकुटा' पर्वत है जिस पर श्री 'वैष्णव देवी का धार्मिक स्थल स्थित है।

जलप्रवाह—जम्मू क्षेत्र में से दो ही प्रमुख नदियां गुज़रती हैं। वे रावी और चिनाब हैं। इनके अतिरिक्त कई खड्डें और छोटे-छोटे नाले भी पीर पंचाल पर्वतक्रम तथा शिवालिक पर्वत श्रेणियों में से निकल कर जम्मू क्षेत्र में से प्रवाहित होते हैं। इनमें मनावर तवी, जम्मू तवी, बसंतर, देवक और उज्झ अपेक्षतया बड़ी हैं।

रावी नदी जम्मू क्षेत्र और दूसरी ओर हिमाचल प्रदेश तथा पंजाब के बीच अन्तर्राजीय सीमा बनाती है। वैदिक साहित्य में इसका नाम पुरुशनी, संस्कृत साहित्य में इरावती तथा यूनानी साहित्य में हाइड्रोटस मिलता है।

स्थानीय तौर पर इसे 'रौआं' भी पुकारा जाता है। यह हिमाचल प्रदेश के बड़े भंगाल क्षेत्र में दो हिमनद-सरिताओं, भादल तथा तांतगरी के परस्पर मिलने से अस्तित्व में आती है। उद्‌गम स्थान पर रावी एक बड़ी तंग कंदरा, जिसके तट समूचे लांबिक हैं, में से गुज़र कर आती है। यह नदी अपने कर्म स्थल के प्रथम चरण में धवलधार पर्वत की उत्तरी ढलानों और पीर पंचाल पर्वत की दक्षिणी ढलानों के प्रवाह से जल ग्रहण करती है। रावी नदी हिमालय पर्वत क्रम को बसोहली के निकट छोड़ कर मैदानी भाग में प्रविष्ट होती है।

चिनाब जम्मू क्षेत्र की दूसरी प्रमुख नदी है। वैदिक साहित्य में इसका नाम 'असिकनी' और संस्कृत साहित्य में चन्द्र भागा पाया गया है। वास्तव में महान हिमालय और पीर पंचाल पर्वतों के बीच चन्द्र और भागा दो नदियों के परस्पर मिलन के फलस्वरूप इस नदी का जन्म होता है। 'चन्द्रा' इन में से अपेक्षतया बड़ी है जो बड़ा लाचा पर्वत के दक्षिण में एक हिमनदी से निकलती है। जहां तक इसके वर्तमान नाम 'चिनाब' का प्रश्न है, ऐसा माना जाता है कि मुसलमान विद्वानों ने इसका यह नाम रखा। उनका मत था कि यह नदी चीन से जल (चीन + आब = चिनाब) भारत में लाती थी। हिमाचल प्रदेश की पांगी घाटी (चम्बा) में से प्रवाहित होती चिनाब पाडर के स्थान पर जम्मू-कश्मीर में प्रवेश करती है। यह एक विशिष्ट हिमालयी नदी है जो हिमालय क्षेत्र को छोड़ कर अखनूर के पास मैदानी भाग में प्रविष्ट होती है। मैदानी भाग में पहुंच कर इस नदी का तल पंखे की भांति फैल जाता है और इसी कारण परगवाल के आसपास के क्षेत्र में लगभग प्रत्येक वर्ष वर्षा ऋतु में बाढ़ आ जाती है।

चिनाब नदी मार्ग में कुछ एक महत्वपूर्ण सहायक नदियां भी हैं। बदवान नदी जो वर्ष भर बहती है किश्तवाड़ के निकट चिनाब से मिलती है। मनावर तवी दूसरी महत्वपूर्ण सहायक नदी है। मनावर तवी स्वयं दो नदियों अर्थात् नौशहरा तवी और ठण्डे पानी वाली तवी के परस्पर मिलने से बनती है।

भौगोलिक शब्दावली में, क्षेत्र के जलप्रवाह के उद्‌गम और विकास को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि शिवालिक पर्वतों से निकलने वाली नदियों के अतिरिक्त शेष नदियां पूर्ववर्ती हैं। जन साधारण की भाषा में यह कहा जाता है कि यह नदियां हिमालय पर्वत से भी पुरानी हैं। जब पर्वत निर्माण क्रिया इस भू-भाग में आरम्भ हुई तो ये नदियां पहले ही विद्यमान थीं। यद्यपि पर्वत-निर्माण क्रिया के कारण, भिचाब, भ्रंशन, तोड़-मोड़ आदि पैदा हुए पर इन नदियों ने अधिक और प्रभावकारी अपरदन से अपने मार्ग बनाए रखे। गहन लाम्बिक अपरदन के फलस्वरूप ये नदियां पर्वत उत्थान के साथ बराबर आगे बढ़ती रहीं। इसी लिये जब चिनाब और रावी मध्य हिमालय को पार करती हैं तो वे खड़ी दीवारों की भांति तटों वाली संकरी और अति गहरी कन्दराओं में से लांघती हैं।

सरिताएं—नदियों का जम्मू क्षेत्र के लिए एक विशेष महत्व है। लगभग समूचे क्षेत्र की स्थलाकृति पर नद्यता की छाप है। विभिन्न प्रकार के भूस्थल भी नदी अपरदन और निक्षेपण का परिणाम हैं। मैदानी भाग को उर्वर मृदा प्रदान करने के अतिरिक्त नदियां खेतों के लिए सिंचाई सुविधाएं, काष्ठ परिवहन की सुविधा, पन-बिजली की तैयारी, मत्स्योत्पादन, पीने का जल, तटों पर बसे नगरों के मल-प्रवाह तथा उद्योगों को जल आदि सुविधाएं भी प्रदान करती हैं।

मानसर, सरूईंसर और सन्नासर तीन प्रमुख झीलें जम्मू क्षेत्र में स्थित हैं। पहली दो जम्मू के निकट और तीसरी पत्तनीटाप के निकट स्थित है। तीनों झीलों को पर्यटकों के लिए आकर्षक स्थल के रूप में विकसित किया गया है।

मृदा : बाह्य पर्वतीय भाग और मैदानी भाग में मिट्टी की निचली परत मोटी, बालू, कंकड़ों, रोड़ों और लौहयुक्त चीका मिट्टी की बनी है। कंडी भाग जहां यही परत ऊपर नजर आती है। कंडी से दक्षिण में स्थित पूर्णतयः मैदानी भाग में ऊपरी परत नदियों द्वारा निक्षिप्त होने के कारण जलोढ़ है जिसमें बलुई मृत्तिका से लेकर दोमट के कणों की प्रचुरता है। इसमें चीका की मात्रा अपेक्षतया कम है। इन मिट्टियों में चूने और नाइट्रोजनी पदार्थ की कमी है पर फास्फेट, पोटाश और मैग्नेशिया की दृष्टि से यह पर्याप्त समृद्ध है। कुछ वर्ष पूर्व किए गए सर्वेक्षण से यह भी पता चला था कि पर्याप्त विस्तृत भाग पर मिट्टी में तेज़ाबी लक्षण पाए जाते हैं। मृदा वैज्ञानिकों का सुझाव है कि मिट्टियों से अच्छा उत्पादन प्राप्त करने के लिये तथा इनकी उर्वरता को सुरक्षित रखने के लिये इनमें पत्तों के गलाने सड़ाने से बनी खाद और चूने का प्रयोग करने के साथ-साथ शैम्बिक (मटरों की भांति—फलीदार) फसलें अधिक उगानी चाहिएं। शैम्बिक पौधे स्वतः वातावरण से उर्वरक तत्वों को ग्रहण करके अपनी जड़ों द्वारा निचली मिट्टी की उर्वरता की पूर्ति करते रहते हैं।

खनिज सम्पदा—किसी क्षेत्र का आर्थिक एवं सांस्कृतिक विकास उसके भौतिक, आर्थिक और मानव संसाधनों के सदुपयोग पर निर्भर करता है। फिर भी आर्थिक गतिविधियों की सम्पन्नता के लिए न्यूनतम संसाधन-आधार की आवश्यकता होती है।

धरती के गर्भ से उत्पन्न समस्त जैव और अजैव पदार्थ खनिज सम्पदा के अन्तर्गत आते हैं। पुरातन समय से ही मानव खनिज संसाधनों का उपयोग करता आ रहा है। पर औद्योगिक क्रांति के उपरान्त यह उपयोग नित्यप्रति बढता गया, वैसे तो जम्मू क्षेत्र में तांबा, सिक्का, जस्त, बाक्साईट, क्रोमियम, सोना, बोरेक्स, जिप्सम, चूना पत्थर, गन्धक, स्लेट, कोयला, लिग्नाइट, प्राकृतिक गैस, संगमरमर, पुखराज, माणिक, बैन्टोनाइट आदि के निक्षेप मिले हैं पर आर्थिक तौर पर कुछ ही खनिजों का उत्खनन हो रहा है।

बसोहली (कठुआ) के बंजाल-सियारा क्षेत्र, मंडी (पुंछ) कालाकोट-मेटका (राजौरी) और सलाल (रियासी) में लगभग चार करोड़ टन चूना पत्थर के भण्डारों का पता चला है और थन्ना मण्डी—धराल (राजौरी) और शुद्ध महादेव (उधमपुर) में भी चूना पत्थर के भण्डार पाये जाते हैं।

जिप्सम के 5.4 करोड़ टन भण्डारों का पता चला है जो पूर्णतय: डोडा जिले में पाये जाते हैं। इस जिले के अस्सर क्षेत्र में कंगा, रामबन और कौड़ापानी जिप्सम के लिए अग्रणीय है। मैग्नेसाईट के तीन लाख टन भण्डार कटड़ा के निकट पैंथल में पाए गए हैं। पैंथल-कटड़ा भाग में डोलोमाईट तथा डोडा जिले के सिचा-रामबन भाग में भी ऐसे निक्षेप मिले हैं।

उधमपुर जिले के चक्कर क्षेत्र में 60 लाख टन बाक्साईट के भण्डार उपलब्ध हुए हैं। बढ़िया प्रकार का ऐन्थरासाईट कोयला कालाकोट, मेटका, महागोला (राजौरी) जंगलगली और चक्कर (उधमपुर) में पाया जाता है। कालाकोट क्षेत्र में बेरगुआ, सैर, बड़ोग, डोली और जिगनी में उत्तम प्रकार के कोयला भंडार हैं। पहले सलाल का ताप बिजली घर इस कोयले का सबसे बड़ा खपतकर्ता था पर सलाल जल शक्ति परियोजना के चालू हो जाने के उपरांत कोयले का बहुत सारा उत्खनन बंद हो गया है। फिर भी चूने के भट्ठों और ईंटों के भट्ठों से इस कोयले की पर्याप्त मांग है।

जम्मू प्रदेश के पुखराज निक्षेप विश्व प्रसिद्ध हैं। हमारे देश में मात्र जम्मू क्षेत्र ही ऐसा भू-भाग है जहां बढ़िया प्रकार के पुखराज पाये जाते हैं। डोडा में पाडर के स्थान पर सागर सतह से 4,418 मीटर की ऊंचाई पर पुखराज की खानें स्थित है। सौ वर्ष से भी पहले (1881 में) इन खानों का पता चला था। देश की स्वाधीनता से पूर्व यहां पुखराज उत्खनित होता था पर उसके पश्चात् यह गतिविधियां बंद हो गईं। अभी हाल ही में पुरानी खानों के मलबे की सफाई से बढ़िया पुखराज प्राप्त हुए हैं। अब राज्य सरकार एक विदेशी खनन संस्था को इस क्षेत्र में सैफायर (पुखराज) का खनन सौंपने जा रही है।

अभी हाल के भौगार्भिक सर्वेक्षणों से पता चला है कि निचले शिवालक क्रम में जलोढ़ स्वर्ण पाया जाता है। पुरमंडल और नगरोटा क्षेत्रों में बेंटोनाइड और पोजलाना चीका मिट्टी के निक्षेप मिले हैं। कठुआ के बनी और डोडा के रामबन बनिहाल क्षेत्रों में स्लेट मिले हैं। क्षेत्र की नदियों, नालों और खड्डों से भारी मात्रा में भवन-निर्माण सामग्री (रेत, बजरी, क्वार्टजाईट, सिलका बालू और बालू पत्थर) प्राप्त की जाती है।

जलवायु—जम्मू क्षेत्र का दक्षिणी भाग जो भारतीय पंजाब और पाकिस्तान पंजाब के साथ लगता है वह जलवायु के अनुसार उपोष्ण आर्द्र प्रकार का है। ग्रीष्मकाल में यहां गर्मी उष्ण खण्ड जैसी होती है। वर्षा गर्मियों में मानसूनी

प्रकार की पड़ती है। शीतकाल ठंडा होता है और इस ऋतु में पश्चिमी चक्रवातों से हल्की वर्षा भी प्राप्त होती है। ग्रीष्मकालीन तापमान 35° से 40° सैलसियस तक और शीतकाल में 10° से 15° सैलसियस तक रहते हैं। पहाड़ियां निकट होने के कारण यहां पंजाब की भांति भयंकर लू नहीं चलती पर शीतकाल में निकटस्थ पर्वतों पर हिमपात के परिणाम स्वरूप शीत लहर का अनुभव किया जाता है। कई बार कुछ भागों में तापमान जमावबिन्दू के निकट पहुंच जाता है। इस भाग में, जो चार ऋतुओं के अन्तर्गत मार्च से मध्य जून तक ग्रीष्म ऋतु (स्थानीय भाषा में सोआ) मध्य जून से मध्य-सितम्बर तक बरसात और नवम्बर से फरवरी अन्त तक शीत ऋतु (स्थानीय भाषा में सियाल) होती है। मध्य सितम्बर से अक्तूबर अंत तक पतझड़ ऋतु होती है। इसी प्रकार फरवरी मध्य से कई बार तापमान बढ़ने लगता है जिससे कड़ाके की सर्दी खत्म हो जाती है। यह ऋतु बसन्त ऋतु है। जनवरी सब से ठंडा और जून सब से गर्म महीना होता है। जम्मू क्षेत्र की औसत वार्षिक वर्षा 12 सेंटीमीटर के लगभग होती है। इस वर्षा का 80 प्रतिशत से 85 प्रतिशत भाग गर्मियों की मानसून पवनों द्वारा प्राप्त होता है।

हिमाद्रि और पीर पंचाल का वह भाग जो जम्मू क्षेत्र को कश्मीर घाटी से पृथक करता है, अपनी ऊंचाई और अक्षांश के कारण वर्ष भर अपेक्षतया निम्न तापमान पर रहता है। मात्र दक्षिणी ढलानों पर ग्रीष्मकाल में मानसूनी प्रकार की वर्षा पड़ती है। अन्यत्र वृष्टि प्रायः शीतकाल में हिमपात के रूप में होती है। डोडा ज़िले के भद्रवाह और किश्तवाड़ भागों में भी जलवायु की स्थिति समान रहती है।

समूचे जम्मू प्रदेश में जलवायु भले ही परिवर्तित न हो रही हो तथापि वनों की अन्धाधुन्ध कटाई के फलस्वरूप औसत वर्षा की मात्रा में अन्तर आया है। यही नहीं वर्षा ऋतु में अपेक्षतया कम वर्षा के कारण भी जो बाढ़ आ जाती है, उसका कारण भी वनों की अवैधानिक और अंधाधुन्ध कटाई है।

प्राकृतिक वनस्पतियां—वे पेड़-पौधे, घास, जड़ी बूटियां जो प्राकृतिक रूप में बिना मानव-हस्तक्षेप के उगती और पनपती है, वह प्राकृतिक वनस्पति कहलाती है। ऐसी वनस्पति अधिकतया मृदा के प्रकार और जलवायु के प्रभावों पर निर्भर करती है। क्योंकि जम्मू प्रदेश में मुख्यतयः दो प्रकार की जलवायु मिलती है, इस क्षेत्र में मोटे तौर पर दो ही प्रकार की प्राकृतिक वनस्पति अथवा वन मिलते हैं।

जम्मू क्षेत्र के दक्षिणी भाग में समुद्र तल से 1500 मीटर की ऊंचाई तक उपोष्ण खंड के वन पाये जाते हैं। मृदा विभिन्नता तापमान और वर्षा की घटती बढ़ती मात्रा के फलस्वरूप इन वनों में भी भिन्न-भिन्न प्रकार के पेड़ पौधे मिलते

है। इन वनों में वृक्षों के तले बड़ी सघन झाड़ियां और जड़ी-बूटियां उगती हैं। पेड़ों में मिलने वाले मुख्य वृक्ष शीशम, नीम, पीपल, तुन, कीकर, आम, जामुन और खैर हैं। कांटेदार झाड़ियां, सदा बहार जड़ी बूटियां और लम्बी-लम्बी घास भी पर्याप्त इन वनों में होती है। स्थानीय भाषा में यह घास खार कहलाती है। ये सभी पतझड़ के वृक्ष हैं जो ग्रीष्मकाल से पूर्व फरवरी-मार्च में अपने पत्ते झाड़ देते हैं। शिवालिक श्रृंखला के बहुत सारे भाग पर बसाका (स्थानीय भाषा में बरेंकड़) विस्तृत रूप से पाया जाता है। बसाका एक औषधियुक्त पौधा है। खांसी की औषधि ग्लाइकोडिन टर्प वसाका इत्यादि में इसी का उपयोग किया गया है। वनों से प्राप्त लकड़ी, ईंधन, मकानों की छतों और कृषि उपकरणों के लिए प्रयुक्त होती है। कत्था भी इन वनों से पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होता है।

उत्तर की ओर जाते हुए ज्यों-ज्यों अक्षांश और ऊंचाई बढ़ती जाती हैं, उपोष्ण वनों का स्थान शीतोष्ण प्रकार के वन ग्रहण करते जाते हैं। पीरपंजाल पर्वतों की दक्षिणी अधिक वर्षा वाली ढलानों पर वन आवरण विरल और झीना है। इसके विपरीत उत्तरी ढलानें सघन कोणधारी वनों से सुसज्जित हैं। इस पर्वतीय भाग की वनस्पति दक्षिण में स्थित चौड़ी पत्ती वाले पतझडी वनों तथा कश्मीर घाटी के शीतोष्ण वनों से भिन्न है। दक्षिणी ढलानों पर चीड़, देवदार सिल्वर, फर, सप्रूस, लारेल, एलम और पेपर बर्च के वृक्ष पाए जाते हैं। पीर-पंजाल पर्वतों की कम ऊंची ढलानों पर पौष्टिक घास मिलती है। ग्रीष्मकाल में यही घास गूजरों और बक्करवालों को आकर्षित करती है। इन वनों से प्राप्त लकड़ी निर्माण-काष्ठ तथा ईंधन के लिए प्रयुक्त होती है। यहां यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि वनों का अतिशोषण तथा ईंधन के लिए बहुमूल्य लकड़ी का प्रयोग एक ओर जहां राज्य को राजस्व का खसारा दे रहा है, वहां दूसरी ओर पर्यावरण को कुप्रभावित कर रहा है।

पूरे राज्य के लगभग 59 प्रतिशत वन मात्र जम्मू क्षेत्र में मिलते हैं। क्षेत्र में सब से अधिक वन्य क्षेत्र डोडा जिले में और उस से कम उधमपुर ज़िले में मिलते हैं। कठुआ ज़िला जो पंजाब के साथ लगता है और जहां मिटटी एवं जलवायु खेती के लिए उत्तम है, सब से कम वन्य क्षेत्र का स्वामी है। समूचे तौर पर देखा जाए तो जम्मू-कश्मीर राज्य में जम्मू क्षेत्र ही वन सम्पदा के अनुसार समृद्ध क्षेत्र है। □

डुग्गर-जनजीवन

☐ डॉ० चम्पा शर्मा

आर्यों के वंशज डोगरा लोग भारत के पश्चिमोत्तर भू भाग के उस क्षेत्र के निवासी हैं जो जम्मू-कश्मीर राज्य के जम्मू प्रान्त हिमाचल के कांगड़ा, चम्बा, मण्डी, विलासपुर आदि, स्थानों, पंजाब के होशियारपुर, गुरदासपुर, शाहपुर कंढी आदि एवं पाक-अधिकृत स्यालकोट के आस-पास तक विस्तृत बतलाया गया है। चम्बा के राजकीय संग्रहालय के एक ग्यारहवीं शताब्दी के ताम्र पत्रानुसार डुग्गर प्रदेश रावी एवं चन्द्रभागा नदियों का मध्यवर्ती प्रदेश है पर उन्नीसवीं शताब्दी तक सतलुज एवं चन्द्रभागा का मध्यवर्ती समूचा पहाड़ी भूखण्ड डोगरों का निवास स्थान बन चुका था।

प्रोफेसर गौरी शंकर के कथनानुसार डुग्गर के तीन प्रमुख खण्ड—पहाड़, कंढी एवं मैदान हैं जहां के निवासियों की विशिष्ट विशेषताएं हैं। इनकी अपनी-अपनी पहचान है। मैदानी भू-भाग में बसने वाले डोगरा लोग पहाड़ी डोगरों से अधिक चुस्त, चतुर, चालाक रहे हैं। कंढी का क्षेत्र वास्तविक रूप में डोगरा जाति के मूल स्वरूप को उजागर करता है। यहां के निवासी परिश्रमी, स्वाभिमानी, आतिथ्य प्रेमी, देशप्रेमी माने जाते हैं। अन्याय के समक्ष घुटने टेकने से "मर मिटना" श्रेयस्कर मानते हैं। इसी धरती पर जन्मे मियां डीडो, जनरल जोरावर सिंह, बावा जितमल, दाता रणपत आदि डोगरा सपूतों ने इतिहास में अपना स्थान बनाया है। डोगरी की वीरता युद्धभूमि में एवं तूलिका पहाड़ी चित्रकला में अपनी पहचान स्वयं कराती आई है।

डुग्गर में बसने वाले सभी डोगरी भाषी डोगरा हैं—चाहे वे किसी भी संप्रदाय से सम्बन्धित तथा किसी भी धर्म में आस्था रखते हैं। यहां के हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई फौज में भरती होने के समय अपने को डोगरा बताने में

शिवनाथ : हिस्ट्री ऑफ डोगरी लिट्रेचर पृ० 1

गर्व अनुभव करते हैं। सेना में भरती होना इनका प्रिय व्यवसाय रहा है। देश की स्वतन्त्रता-प्राप्ति से पूर्व डोगरा लोग अधिक पढ़े-लिखे नहीं थे।

इनकी जीवन-पद्धति बड़ी सरल एवं सादा रही है। इसका एक कारण डुग्गर की आर्थिक दृष्टि से पिछड़ा होना तथा देश में बड़े-बड़े नगरों से सम्पर्क का न होना भी रहा है। अभावों से पीड़ित डोगरा लोग भाग्यवादी रहे हैं।

डोगरा पहनावे पर राजस्थानी एवं मुगल लिबासों का प्रभाव प्रतीत होता है। डोगरा क़िसान एवं राजस्थानी किसान में दूर से अन्तर करना कठिन हो जाता है। आम पुरुष चूड़ीदार पायजामा, मुग़लई कुरता उस पर खुली बाजुओं वाला कुर्ता पहनते और सिर पर बड़ी सी पगड़ी बांधते थे। ब्राह्मण कुर्ते के साथ धोती तथा मुसलमान सलवार-कमीज तह्‌मत और सिर पर टोपी पहनते थे। स्त्रियां लम्बा कुर्ता, चूड़ीदार रंगदार पायजामा (डो० सुत्थन) पहनती थीं और सिर पर 'डेढ़पटा' दुपट्टा ओढ़ती थीं। 'सुत्थन' के ऊपर घुटनों तक लम्बा घाघरा पहनने की प्रथा प्रचलित थी। पांव में तिल्लेदार अथवा काढ़ी गई 'पन्नियां' पहनती थीं—निर्धन लोग नगे पांव ही घूमते थे। शहर-बस्ती जाते समय जूते संग लिवा ले जाते और वहां पहुंच कर पहन लेते थे। मर्द लोग बूट अथवा 'चढ़ावां जूता' पहनते थे। हिन्दू महिलायें रसोई बनाते 'गिद्दी' धारण करती थीं। शुभावसरों पर गोटे-किनारी जड़े रंगीन वस्त्र धारण करती थीं। सिर से पांव तक अनेक प्रकार के आभूषण पहनती थीं। युवतियों एवं वृद्धाओं के वस्त्रालंकरण में स्पष्ट अन्तर रहता था। पुरुष भी समय एवं अवस्थानुसार पहनावा पहनते थे। सुडौल, स्वस्थ एवं आकर्षक शरीर, तीखे नयन-नक्श युक्त डोगरा महिलायें श्रृंगार प्रिय रही हैं। श्रृंगारिक उपकरणों में अखरोट की छाल की दातुन, काजल, सिन्दूर, मेंहदी, उबटन, वस्त्राभूषण आदि प्रमुख हैं। आलता का प्रयोग नहीं होता। फूलों से केश नहीं संवारे जाते। फूल देवमूर्तियों पर ही चढ़ाए जाते हैं।

शारीरिक प्रसाधन कला की भान्ति डुग्गर में घर-आंगन का श्रृंगार भी विलक्षण विधि से किया जाता है। गांवों में घर प्रायः कच्चे होते हैं जिन्हें गोबर से लीप कर चूने, मकोल, परोले (सफ़ेद मिट्टी) से पोत कर हाथ से बनाई गई वस्तुओं से सजाया जाता है। हाथ की कढ़ाई से निर्मित गुलदस्ता, कहीं विभिन्न रंगीन धागों से काढ़ी गयी एवं फ्रेम में जड़ी हुई मोर, तोता, हाथी की आकृतियां दीवारों की शोभा बढ़ाती हुई मिलती हैं। पलंगों पर हाथ की कढ़ाई से बनी सफेद चादरें एवं तकिये आगन्तुकों का ध्यान बरबस आकर्षित कर उठते हैं।

डोगरा लोगों के रसोई घरों में पीतल, कांसे, ताम्बे, लोहे के बर्तन अपने-अपने स्थान पर रखे हुये रसोईघर की शोभा बढ़ाते मिलते हैं। मुस्लिम-घरों में

ताम्बे के बर्तनों की बहुलता रहती हैं। सनातनी हिन्दुओं के घरों में ठाकुर जी की पूजा उनके भोग आदि के लिये ताम्बे के लघुपात्र अवश्यरूपेण होते हैं जिन्हें 'सञ्ज' की संज्ञा दी गई है। इनके अतिरिक्त तोते की चूरी के लिए कटोरी, चिड़िया का चड़ोला, (मिट्टी का प्याला) पशुओं को जल पिलाने का बर्तन भी अपने-अपने स्थान पर पड़ा हुआ डोगरा लोगों के पशु-पक्षी प्रिय होने का परिचय देते हैं। डोगरा लोगों की आर्थिक स्थिति का अनुमान उनके पशुधन एवं बर्तन-भांडों से लगाया जाता था। बच्चों की पोशाक ऋतु, सुविधा एवं उपयोगिता को ध्यान में रखकर बनाई, पहनाई जाती थी। अमीरों गरीबों की वेशभूषा में अन्तर स्पष्ट दिखाई देता था। लोगों को वेशभूषा की चिन्ता नहीं होती थी किन्तु इस के लिये वे सदैव सचेत रहते थे कि उनके पहरावे से कहीं अशिष्टता एवं नग्नता का आभास न हो।

आज तो डोगरा घरों की रसोइयों में दक्षिणी भारतीयों का चहेता दोसा, इडली, सांभर, बंगाल का कढ़ी-भात, कश्मीरी दमआलू, रोगन जोश, यखनी आदि व्यंजनों ने भी स्थान ग्रहण कर लिया है पर मूलरूप में डोगरा लोगों के भोज्य-पदार्थों में गेहूं, मक्की, जौ, बाजरा, दाल-भाजी का प्राधान्य रहा है। इन्हीं अनाजों को अवसरानुकूल एवं मौसमानुसार पका बनाकर खाया-खिलाया जाता है। वर्षा ऋतु के आगमन के साथ ही साथ डोगरा घरों में रंगारंग पकवान बनना प्रारम्भ हो जाते हैं जिनमें खीर 'चिल्ले' (पूए), 'चरोलियां', बब्बर, खमीरे 'पतरोड़े', ठीकर मंडे, 'घुंगनियां, 'सेवइयां' द्रोपड़ां, सुट्टू-भुट्टू, रुट्ट आदि का दौर शुरू हो जाता है। दूध-भात की लोकप्रियता इस कहावत से सिद्ध होती प्रतीत होती है—

"सावन खीर न खादिआ,
ते की जम्मेआ अपराधिआ।"

विवाहादि अवसरों पर बनने वाले घ्यूर, थोथरू, श्री पुलाव, सुच्चियां, अम्बल, औहरिया, गुच्छियां, मद्धरा क'ले, सस्स रुट्ट, गु'ल्लरा आदि का नाम सुनते ही मुंह में पानी भर आता है। दाल-भात मध्यवर्गीय डोगरा लोगों का मनभाता भोजन रहा है। एक भक्त महिला अपने प्रभु से भोजन के लिये आमन्त्रित करती हुई कहती है—

"बासमतिया दा में भत्त रन्हान्नी आं,
मांहें दी प्रभु जी दाल बन्नानी आं,
आओ प्रभु जी तुस खाई लो।"

पर शोकावसरों पर सादा, हल्दी आदि के बिना पकाया हुआ भोजन क्रिया-कर्म तक पकाया और परोसा जाता है।

ब्राह्मण लोग अतीत में पूर्णतया शाकाहारी थे। अन्य हिन्दू जातियों के लोग भी पूर्णमाशी, अमावस्या, एकादशी, अष्टमी, संक्रान्ति, मंगलवार आदि दिनों को तथा अन्य धार्मिक पर्व-त्यौहारों पर मांस नहीं खाते थे। मदिरा पान का पहले प्रायः रिवाज नहीं था पर लड़के के जन्म, विवाहादि अवसरों पर कुछ लोग मदिरापान कर लेते थे। मांसाहारी महिलायें भी बालक जनने पर वर्जित समय तक मांस नहीं खाती थीं पर आज इसमें काफी शिथिलता आ चुकी है। डोगरा लोगों में विवाह के कई प्रकार प्रचलित थे। हिन्दुओं में विशुद्ध गोत्र में विवाह करना मन्दा था। वैसे धन लेकर भी बेटियां व्याही जाती थीं। दोहरी की प्रथा का भी प्रचलन था। कई बार दूध पीती पुत्रियां ब्याह दी जाती थीं और ससुराल जाने की रस्म पूरी करने के लिये पुत्री के साथ उसकी माता को भी जाना पड़ता था। दहेज देने और लेने का भी रिवाज था। विवाह से पूर्व वर पक्ष के तिलक (टिक्का) भेजने की प्रथा तो थी पर आज की भान्ति आखा, ठाका, टिक्का प्रचलित नहीं था। हिन्दू लोग समान स्तर के परिवारों से विवाह-सम्बन्ध स्थापित करते थे। माता-पिता की उपजाति में विवाह सम्बन्ध वर्जित थे। विधवा विवाह का रिवाज नहीं था।

डोगरा लोगों में संयुक्त परिवार प्रथा का प्रचलन रहा है। घर का मुखिया घर की व्यवस्था की देख-रेख एवं प्रबन्ध करता था। अन्य सदस्य अर्जित धनराशि घर के मुखिया को दे देते थे और वह घर-गृहस्थी का संचालन करता था। पुरुष जाति-अनुकूल व्यवसाय करते, ब्राह्मण नौकरी पेशा द्वारा आजीविका कमाते थे और वैश्य वाणिज्य व्यापार करते। डोगरा अधिकतर गांवों में ही रहते थे। प्रत्येक परिवार का अपना कुम्हार स्वर्णकार, चर्मकार, दर्जी, कहार, नाई, धोबी आदि होता था जिसे फसल तैयार होकर घर आने पर उसके निर्वाह के लिये अनाज दिया जाता था। इस 'देय' को 'सेप' अथवा 'बरसोध' कहा जाता है। घर-परिवार में यों तो परस्पर सद्भावना बनी रहती पर भौतिकतावाद के तीव्रगति से पदार्पण ने डोगरा जनजीवन को भी प्रभावित किया है। संयुक्त परिवार-प्रथा प्रायः टूट चुकी है।

डोगरा समाज में सास बहू के झगड़े, देवर-भाभी के प्रणय सम्बन्ध, देवरानी-जेठानी की अनबन एवं स्पर्धा आदि के भी उल्लेख डोगरी लोक-साहित्य में मिलते हैं।

मनोरंजन के लिये डोगरा लोग मेलों, मल्ल युद्धों लोक नाचों का समय-समय पर आयोजन करते आए हैं। बैसाखी का मेला यहां बड़ी धूमधाम से मनाया जाता है। इस दिन कई स्थानों पर 'भांगड़ा' नृत्य किया जाता है। रक्षा बन्धन के त्यौहार पर शिव स्थानों पर पुंछ में 'बूढ़ा अमरनाथ' रियासी में 'शिवखोड़ी' स्थान पर शिव भक्तों का एकत्रित होना प्रसिद्ध है। इस दिन जम्मू में पतंगबाजी दर्शनीय होती है। नवरात्रों में शक्ति स्थलों पर देवी की

पूजा उत्सव बड़े उत्साह और धूमधाम से मनाया जाता है दीवान सजते हैं। गुरु पर्वों पर गुरुद्वारों में लंगर लगते हैं। शब्द कीर्तन होते हैं। इसी दिन जम्मू नगर से दस-बारह मील की दूरी पर प्रख्यात 'झिड़ी' स्थान पर शहीद किसान एवं अमर पुरुष बाबा जितमल की पुण्य स्मृति में सात दिवसीय मेला लगता है। वसन्त पंचमी को कई मन्दिरों में मेले लगते हैं। महा शिवरात्रि को शिवमन्दिरों में भक्तों का एकत्रित होना एवं शिव-विवाह सम्बन्धी कथा-वार्ता सुनना, मकर संक्रान्ति से एक दिन पूर्व 'लोहड़ी' त्योहार मनाना भी प्रसिद्ध है। जिसका मुख्य आकर्षण "छज्जा नाच" होता है। जन्माष्टमी को पतंगबाजी का दृश्य दर्शनीय होता है। कबूतरबाजी भी डोगरों का एक प्रिय मनोरंजन रहा है।

नृत्यों में भंगड़ा के अतिरिक्त 'चौकी', 'चाल', 'कुड्ढ', 'फुम्मनी', 'तम्हचडा', 'घुरेई नाच' भी समयानुसार नाचे जाते हैं। स्त्रियों के प्रिय नृत्य कींकली फेरी, जागरना उल्लेखनीय हैं।

डोगरा समाज द्वारा हास्य विनोद को भी जीवन में स्थान दिया गया है जिसका परिचय डोगरी लोकगीतों की सिठनी, छन्द आदि विधा से मिलता है। शारीरिक कसरत के साथ-साथ दिमागी कसरत के लिये दिन भर के कामकाज से निवृत्त होकर रात्रि को किसी स्थान पर आराम से बैठकर बुझावल अथवा पहेलियां (डो० फलौनियां) पूछने की प्रथा आज तक चली आ रही है। लोक-कथायें सुनने सुनाने, 'भाखां' गाने का शौक रहा। बालक जन्म, बालक के जन्म दिन, नामकरण, मुण्डन एवं विवाह आदि के शुभावसरों पर ननद-ननदोई, देवर-भाभी को प्रमुख रूप से एवं अन्य सम्बन्धियों को भी हंसी मज़ाक का पात्र बना कर खिल-खिला कर हंसने की परिपाटी चली आई है।

डोगरा बालिकायें 'गेंद-गीह्टे' 'खो-खो', 'समुन्दर-टप्प' 'छुप-छिपाई' ठीकरी-म-ठीकरी खेलकर और विशेषावसरों जैसे 'सकोलड़ों' के त्योहार पर मिल बैठकर, नवरात्रों की अष्टमी को कान्ह-गोपियां बनाकर, मुक्तकण्ठ से गीत-भजन गाकर मनोविनोद कर लेती हैं। बालक कबड्डी, सन्तोलिया, गुल्ली डंडा, आदि खेलें खेलकर तथा लोहड़ी पर 'छज्जा-नाच करके', स्वांग आदि रचकर अपना मनोविनोद करते हैं। लोहड़ी के एक मास पूर्व ही डुग्गर के ग्रामीण बालक-बालिकायें नित्य सांझ को प्रत्येक घर से लकड़ा, उपल, गुड़, भूनी हुई मक्का-तिल आदि इकट्ठा करके किसी स्थान पर आग जलाकर खाद्य वस्तुओं का आनन्द उठाते हैं और आग का सेवन करके शीत के प्रकोप को कम करते हैं। अनपढ़ता के कारण आत्म विश्वास की कमी के फलस्वरूप प्राचीन डोगरा समाज में अनेक प्रकार के अन्ध-विश्वासों का प्रचलन रहा जिनमें से अधिकांश आज भी मान्यता प्राप्त हैं। यहां की न केवल महिलायें ही आबाल वृद्ध नर-नारी लोकविश्वासों में आस्था रखते है। बच्चे अपना दूध का दांत टूटने पर

चिड़िया से उनका टूटा दांत ले जाने और कौए से नया दांत दे जाने को कहते हैं :—

"चिड़िये-चिड़िये पराना दन्द लेई जा,
कांवां-कांवां नमां दन्द देई जा ।"

डोगरा लोग श्राद्ध पक्ष में नया वस्त्र नहीं पहनते । पंचकों में भी नये वस्त्र बनवाना-पहनना, झाड़ू खरीदना, हजामत करवाना, सिर धोना आदि अशुभ माना जाता है । मंगल, वृहस्पति तथा रविवार को किसी मृत प्राणी के घर संवेदना प्रकट करने बुद्धवार एवं शनिवार को पहाड़ी सफर न करने का लोक विश्वास ज्यों का त्यों सदियों से चला आ रहा है । बुध-शनिश्चर नया कपड़ा पहनने. रविवार आभूषण धारण करने एवं सोमवार खाट बनवाने के लिये श्रेयस्कर बतलाये गये हैं ।

ग्रहण काल में गर्भवती के लिये किसी भी प्रकार का काम करना मना किया गया है । प्रात:काल डुग्गर के साम्बा, अखनूर, उधमपुर आदि जगहों का नाम लेना वर्जित है, गाय का छींकना, बिल्लियों का रोना, उल्लू का दिन में बोलना आपत्तिसूचक समझा जाता है । पर कुछ खाते समय पहनते समय होने वाली छींक शुभ मानी जाती है ।

किसी नाक को खुजली होना रोगी होने का सूचक, एक हथेली पर खुजली होने से धन का आकस्मिक आगमन तथा विपरीत हथेली की खुजली धन के व्यय की सूचक है । जूते पर जूते का चढ़ जाना, मुंढेर पर कौए का बोलना अतिथि-आगमन की सूचना देने वाला विश्वास है ।

डुग्गर में यह भी विश्वास प्रचलित है कि बिन-ब्याहा बालक मरने के उपरान्त भूत बनता है । प्रसवकाल में मृत महिला, विशेषतया यदि उसका नवजात शिशु जीवित रह जाये तो वह चुड़ैल बनकर उस घर के निकट रात्रि को चक्कर लगाती है ।

भादों मास की चतुर्थी को चन्द्रमा देखने वाले पर चोरी का आरोप लगता है । अत: यदि किसी ने अनजाने में चन्द्रमा देख लिया हो तो वह इसी मास की चतुर्दशी को पड़ोसियों के घर चोरी से पत्थर मारे और वे गाली देवें तो चोरी का दोष हट जाता है ।

यात्रा से सम्बन्धित अनेक प्रकार के लोक विश्वासों द्वारा डोगरा जन-जीवन का अक्स देखा जा सकता है । यात्रा पर जाते समय द्वार पर कन्या को जलपूर्ण पात्र लेकर खड़ा किया जाता है । कन्या यात्रा पर जाने वाले के माथे पर जल का टीका लगाती है और वह उसकी वन्दना करके जाता है । बाहर जाते समय यदि सांप दिखाई दे, कुत्ता कान झटके, बिल्ली रास्ता काटे, लकड़ियों

का गट्ठा; गोबर की टोकरी, खाली घड़ा, झाड़ू, खाली टोकरी आदि मिलें तो कुलक्षण समझा जाता है। वाहन चालक एक साथ शहद और घी गाड़ी में नहीं लाते। किसी विशेष कार्य हेतु बाहिर जाते जलपूर्ण घड़ा सफाई कर्मचारी मिल जाये तो शुभ माना जाता है। वस्तुतः जीवन के हर पहलू से सम्बन्धित लोक विश्वास प्रचलित हैं।

डोगरा जनजीवन में धर्म-कर्म का विशेष स्थान है। विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों में आस्था रखने वाले डोगरा लोग अपने आप में परस्पर सौहार्दता का अनूठा प्रमाण हैं। डुग्गर में स्थान-स्थान पर विभिन्न धर्मों से सम्बन्धित पूजा स्थल बनाये गये हैं। जहां विशेष पर्वों पर सभी लोग जाते हैं। हिन्दू धर्म के भी कई रूप यहां मिलते हैं—जिनमें सनातनी, आर्यसमाजी, शैव, शाक्त, जैन आदि प्रमुख हैं। लोगों को पूजा-पाठ, व्रत-उपवास, तीर्थ-यात्रा, दान-पुण्य कर्म, पर्व-त्यौहारों में रुचि लेना आदि से इनके धार्मिक-दृष्टिकोण की प्रतीति होती है। राम, कृष्ण, दुर्गा, शिव पार्वती, गणेश, विष्णु इनके इष्टदेव हैं। इनके अतिरिक्त इनके कुलदेव एवं देवियां (सीला बैन्तियां) भी इनके जीवन को प्रेरित करती हैं। कुलदेवता के स्थान पर वर्ष में एक निश्चित दिन को पर्व मनाया जाता है। विवाह, बालक जन्म सम्बन्धी कतिपय कृत्य कुलदेवता के स्थान पर सम्पन्न किये जाते हैं।

डोगरा जनमानस में सगुण भक्ति के साथ ही साथ निर्गुण भक्ति का भी विशेष स्थान है। डोगरी लोक गीतों की 'सुहाग' विधा में चर्चित 'राम' विष्णु का अवतार दशरथ पुत्र राम हैं जबकि निम्न लोकगीत के 'राम' भक्त कबीर के 'अलख-निरंजन', घर-घर वासी, सर्वव्यापी परमपिता परमेश्वर हैं—

"मास सै सेइयो सैंसें सुखाए,
पिञ्जरा रेही गेइयां हड्डियां ।
मेरे राम बिना मेरे हीर बिना,
दिन निक्के ते रातां बड्डियां।"

वट आदि वृक्ष पूजा, नाग पूजा, नदी पूजा, गाय पूजा, गोवर्धन पूजा, ग्रामपूजा, आदि की भी पर्याप्त महत्ता है।

डोगरा लोग संस्कारों में विश्वास रखते हैं। शास्त्रों द्वारा निर्दिष्ट सोलह संस्कारों में कतिपय प्रमुख संस्कार डोगरा-संस्कृति में भी मान्य हैं एवं निष्पन्न किये जाते हैं। पुंसवन, नामकरण, मुण्डन, विवाह आदि संस्कारों के अतिरिक्त मृत्यु से सम्बन्धित संस्कार सम्पन्न किये जाते हैं। विशेष पर्वों पर दान पुण्य कर्म किये जाते हैं। डोगरा नारी वर्ग में प्रचलित 'बेआ' (बायना) नाम से प्रख्यात दान संक्रान्ति को सास, ससुर, जेठानी, सुहागिन, स्त्री, ब्राह्मण, मल्लाह, चौकीदार आदि को दिया जाता है। मकर संक्रान्ति को घर के सभी सदस्य यथाशक्ति

शास्त्रनिर्दिष्ट खिचड़ी (चावल, उड़द मिश्रित) तिल गुड़, फल-सब्जी दक्षिणा सहित दान करने की प्रथा प्रचलित है। कर्क संक्रान्ति को घर के मृत-जीवों की संख्या के बराबर जलपूर्ण कुम्भ, का फल, मिष्ठान्न आदि के साथ दान किया जाता है। स्थान-स्थान पर ठंडे-मीठे जल की छबीलें लगवाई जाती हैं। ग्रीष्म में पड़ने वाले गुरुपर्वों पर भी ठंडे मीठे पानी की छबीलें लगवाई जाती हैं। संक्रान्ति, अमावस्या-चतुर्दशी, वैशाखी, नवरात्रों, माघमास, शिवरात्रि आदि के अवसर पर पनघटों पर स्नान करने का भी यहां माहातम्य रहा है।

डोगरा मुसलमान भी नित्य प्रति नमाज पढ़ते हैं—रमज़ान में रोज़े रखते हैं। ईद-बकरीद आदि त्यौहार बड़ी धूमधाम से मनाते हैं। डोगरा समाज के अन्य सम्प्रदायों के लोग भी बधाई देने जाते हैं। पीरों की दरगाहें-मज़ार सभी जनों के माननीय धार्मिक स्थल हैं।

डोगरा जन-जीवन में लोक चिकित्सा का विशेष योगदान है। स्वच्छ प्राकृतिक दातावरण में सरल-सहज जीवन-यापन करने वाले परिश्रमी एवं धर्म-कर्म में आस्था रखने वाले डोगरा लोग गांव-कस्बों में घरेलू उपचार से ही रोग मुक्त हो जाते हैं। घर-घर में उपलब्ध नित्य के उपयोग में आने वाली वस्तुओं के सेवन से कई रोगों से छुटकारा हो जाता है।

सारांश में आज की तुलना में पहले का डोगरा समाज अत्यन्त सादा था। लोग धर्मभीरू थे। अधिकतर अशिक्षित थे पर व्यापार में हजारों का लेन-देन कर लेते थे। भ्रष्टाचार उन्हें ज्ञात नहीं था। ऋण चुकाना, धार्मिक कर्त्तव्य मानते थे। बात के धनी थे। कर्त्तव्य के प्रति निष्ठावान थे। पर साथ ही साथ स्वाभिमानी थे। किसी के सामने झुकने से मर मिटना उनके लिये श्रेयस्कर एवं प्रिय था। □

सहायक पुस्तकें :—

1. चम्पा शर्मा : डुग्गर दा लोक जीवन तथा 'इक झांक'
2. ओम गोस्वामी : डुग्गर दा सांस्कृतिक इतिहास
3. विश्वनाथ खजूरिया : डुग्गर दा जीवन दर्शन
4. शिवनाथ : हिस्ट्री ऑफ डोगरी लिट्रेचर

डुग्गर जन-संस्कृति

□ शशि पठानिया

संस्कृति मानव जाति की निजी उपलब्धि तथा स्वयं अर्जित विशेषता है। मनुष्य केवल भौतिक विकास पा लेने से ही तृप्त नहीं हो जाता मन और आत्मा की तृप्ति के लिए भी वह संघर्ष करता रहता है। इस संघर्ष में उसकी सफलता की सूचक हर रचना संस्कृति का अंग बनती जाती है। मनुष्य मन और आत्मा की जिज्ञासा की संतुष्टि में जो कुछ अर्जित करता है उसे धर्म, दर्शन, कलाओं आदि का इतिहास बनता जाता है। अर्थात् शारीरिक सुख के पीछे जो मानसिकता है, जिसका उद्देश्य मानव जीवन को संवारना, सजाना, सांस्कारित करना है, वही संस्कृति है।

हर देश, हर युग की अपनी समस्याएं, अपने प्रश्न होते हैं तथा मनुष्य उनके समाधान ढूंढता हैं। इसलिए देश, हर युग, और जाति की अपनी एक संस्कृति होती है। किसी संस्कृति को श्रेष्ठ या हीन, अच्छा या बुरा नहीं कहा जा सकता क्योंकि हर संस्कृति एक स्वतंत्र कार्यात्मक इकाई है।

भारत देश एक समृद्ध संस्कृति का देश है। यहां अलग-अलग भाषाओं, जातियों और धर्मों के लोग रहते हैं परन्तु फिर भी एक ही संस्कृति के धागे से आपस में जुड़े हुए हैं। डुग्गर एक प्राचीन जनपद है तथा इसकी संस्कृति भी भारतीय संस्कृति का एक अभिन्न अंग है।

संस्कृति का सही रूप तो जन-संस्कृति में ही देखा जा सकता है क्योंकि जन-संस्कृति में ही जन-मानस से जुड़े धर्म, दर्शन आस्था, विश्वास, रीति-रिवाज, संस्कार, खान-पान, पर्व-त्योहार, कलाओं, इतिहास आदि को देखा जा सकता है।

संस्कृति किसी एक रूप में ही न होकर कई रूपों में अभिव्यक्त होती है परन्तु किसी जाति या प्रदेश की जन-संस्कृति को जानने के लिए उसका लोक-साहित्य एक प्रभावशाली माध्यम होता है। डुग्गर वासियों की

साधारण बातों से लेकर उच्च ज्ञान, दर्शन आदि भी लोक-साहित्य में प्रतिबिम्बित होते हैं। इस लेख में डुग्गर की जन-संस्कृति को जानने के लिए लोक-गीतों को आधार बनाया गया है क्योंकि लोक गीत मनुष्य मात्र के मन का विश्लेषण करते हैं। इसलिए उनमें मनुष्य के मानसिक तथा सामाजिक विकास की संपूर्ण तो नहीं परन्तु पर्याप्त जानकारी अवश्य उपलब्ध हो जाती है।

डुग्गर वनों, पर्वतों तथा नदियों का प्रदेश है। यहां मैदानी पट्टी को छोड़कर बाकी पहाड़ी और पथरीला कंढी का इलाका है। यहां मुख्यतः गेहूं, बाजरा, धान, मकई आदि अनाज की उपज होती है।

लम्मिया पट्टिया में कनक रोहान्नी आं[1]

× × × × ×

बाजरे दी बाह्ड्डी, गोरी करदी ताड़ो-ताड़ ओ,[2]
बड्ढी सथरे पिच्छें टकांदी करदी मारो-मार ओ।

× × × × ×

सौन म्हीन्नै दे धान झुलदे रौंए कन्ने[3]
लाड़ी मेरी बद्दी घाऽ ते औं जर गौएं कन्नै।

× × × × ×

ख'ल्लें देसें लैंबां लान्दे,[4]
कण्ढियें लान्दे मक्कां ओ।

अनाजों के अतिरिक्त फल, फूल आदि भी उगाए जाते हैं। फलों में आम, केला, नाशपाती, नींबू, शहतूत, अनार, अंगूर, आलूचा, आड़, अमरूद, सेब, जामुन, बैर तथा जंगली फलों में गरना, ककोहा, अंजीर आदि का वर्णन लोक गीतों में भी मिलता है।

आड़ू पक्के, केल्ले पक्के, लूचें लाइयां व्हारां जी,[5]
बागै साढ़े किम्ब पक्के, बागें छाई दोआसी जी।

× × × × ×

---

1. डोगरी लोक गीत भाग—12, पृ०—138
2. डोगरी लोक गीत भाग—12, पृ०—174
3. डोगरी लोक गीत भाग—12, पृ०—140
4. डोगरी लोक गीत भाग—12, पृ०—108
5. डोगरी लोक गीत भाग—12, पृ०—171

उप्पर धारा अम्बियां पक्कियां, ठांगियां पक्कियां,
पद्दर काले तूत बो ।[1]

× × × × ×

साढ़े बागें नार जे पक्के पक्की होए टटारां जी[2]
साढ़े बागें लूचे पक्के, पक्की होए टटारां जी ।

फल-फूलों के साथ-साथ डुग्गर धरती पर केसर, लौंग, सुपारी, जायफल आदि की पैदावार का भी जिक्र डोगरी लोकगीतों में हुआ है ।

लौंग, सपारी ते जैफल राहेआ[3],
ते केसर दी लग्गी आं क्यारी ।

वनस्पतियों में कीकर, फलाही, जामुन, शीशम, चीड़, देवदार, खैर, बैर, बरगद, पीपल, कचनार, पलाश आदि के वृक्ष पाए जाते हैं । जिनकी लकड़ी इमारतों में प्रयोग की जाती है तथा ईंधन के काम भी आती है ।

यहां डुग्गर की वनस्पतियां यहां की धरती की सुगंध लिए हुए अपनी विशेषता रखती है वहां यहां के निवासी भी ठेठ रंगत अपनाए हुए हैं । डुग्गर के वासी "डोगरे" कहलाते हैं । निश्चय ही कई जातियों और धर्मों के लोग रहते हैं, वह हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई बाद में पहले वह डोगरे हैं ।

डोगरों का मुख्य व्यवसाय कृषि है परन्तु नौकरी और व्यापार भी किया जाता है । मुसलमानों में गुज्जर, बकरवाल तथा तेली, दूध, घी आदि का काम करते हैं । जबकि राजपूत फौज की नौकरी को तरजीह देते हैं । ब्राह्मण कृषि भी करते हैं तथा नौकरी भी । महाजन, क्षत्रिय आमतौर पर व्यापार ही करते है । बाकी लोग सुनार, लुहार, कुम्हार, मोची, बढ़ई, कपड़ा बुनना तथा मजदूरी आदि करते हैं । पशुपालन, दुकानदारी, दरजी आदि धन्धों की चर्चा भी लोकगीतों में मिलती है । घरेलू उद्योग धन्धों के अलावा आजकल डुग्गर में बड़े-बड़े उद्योग धन्धों को भी बढ़ावा मिल रहा है ।

धर्म की दृष्टि से डुग्गर में धर्म-निरपेक्ष जन-संस्कृति के दर्शन होते हैं । सभी धर्मों के धार्मिक स्थानों को आदर की दृष्टि से देखा जाता है । एक दूसरे के धार्मिक स्थानों की यात्रा करना तथा जाकर मन्नतें मानने के प्रमाण भी मिलते हैं । एक गीत में सम्राट अकबर का नंगे पांव चलकर ज्वाला देवी जाने का जिक्र भी हुआ है—

---

1. डोगरी लोक गीत भाग—12, पृ०—170
2. डोगरी लोक गीत भाग—12, पृ०—173
3. डोगरी लोक गीत भाग—12, पृ०—170

नंगे-नंगे पैरें माता अकबर आया[1]
सुन्ने दा छत्तर चढ़ाया ।

हर धर्म के धार्मिक अनुष्ठानों के दर्शन अलग-अलग आचरणों में होते हैं। धार्मिक अनुष्ठानों को उस धर्म की परम्परा के अनुसार सम्पन्न किया जाता है।

इस्लाम धर्म में हिन्दू धर्म वाली अनेकरूपता दृष्टि गोचर नहीं होती है। इस्लाम धर्म के अनुयायी सभी एक ही "अल्लाह" की इबादत करते हैं। उनकी इबादत "नमाज" के रूप में सम्पन्न होती है। नमाज़ के वक्त मस्जिद का इमाम "अज़ान" देकर लोगों को नमाज के वक्त की सूचना देता है। मस्जिद में पांच वक्त की नमाज अदा की जाती है। शुक्रवार की नमाज़ को खास महत्त्व दिया जाता है।

इस्लाम धर्म के ईद-ए-मिलाद, ईद-उल-फितुर, ईद-उल-ज़ोहा, शब-ए-बरात, शब-ए-मिराज, शब-ए-क़दर आदि पर्व त्यौहारों पर मस्जिदों में "जलवे" होते हैं तथा "तकरीबें" मनाई जाती हैं। लोग बड़ी संख्या में ईद गाहों पर लगने वाले मेलों में जाते हैं।

सिक्ख धर्म पर कुछ हद तक हिन्दू धर्म की छाप है। सत्संग, कीर्तन, शब्द-पाठ आदि सिक्ख धर्म के अनुयायियों के प्रमुख आचरण हैं। जिनको आम लोग गुरुद्वारों में बैठ कर करते हैं। गुरुओं के जन्म दिन तथा शहीदी दिन गुरु पर्व के रूप में मनाए जाते हैं। बैसाखी और दीपावली सिक्ख धर्म के भी पवित्र दिवस हैं। हर पर्व पर सत्संग और रैन-सवाइयें होती हैं, अखण्ड पाठ होते हैं तथा लंगर लगते हैं। सिक्ख धर्म में "संगत" को बहुत महत्व दिया जाता है और हर अनुष्ठान और आचरण को सादगी से सम्पन्न करने की विशेषता है।

ईसाई धर्म के अनुष्ठानों के गिने चुने आचरण ही देखने में आते हैं। वह लोग गिरजाघरों की "प्रार्थना सभाओं" में जाते हैं तथा ऐतवार को विशेष प्रार्थना सभा होती है जिसको सर्विस कहते हैं। लोग बढ़-चढ़ कर इसमें हिस्सा लेते हैं। गुड फ्राई-डे, ईस्टर-डे, क्रिसमस डे आदि इन पर्वों पर गिरजाघरों में भी खूब चहल पहल होती है और घरों में भी लोग इन पर्वों को बड़े उत्साह के साथ मनाते हैं।

डुग्गर में हिन्दू धर्म के अनुष्ठानों में देव स्तुति, पूजा-पाठ, हवन-यज्ञ, दान-पुण्य, व्रत, तीर्थ-यात्रा आदि आचरण प्रमुख हैं।

डुग्गर के लोग देवी-देवताओं, प्राकृतिक शक्तियों की स्तुति तथा उनकी पूजा-आराधना में दृढ़ विश्वास रखते हैं। यहां के लोग वैसे तो तैंतीस करोड़

---

1. डोगरी लोक गीत भाग—13, पृ०—26

देवताओं को पूजते हैं परन्तु गणेश, शिव, राम, कृष्ण, शक्ति आदि देवताओं के प्रति अटूट निष्ठा रखते हैं।

किसी भी शुभ कार्य का शुभारम्भ गणेश स्तुति से ही किया जाता है। धूप-दीप, फल-फूल, मेवे आदि चढ़ा कर पूजा की जाती है।

जै गणेश, जै गणेश जै गणेश देवा,[1]
माता जिनकी पारवती पिता महादेमा।
हार चाढ़ां, फुल्ल चाढ़ां होर चाढ़ां मेवा,
लड्डूएं दा भोग लग्गै सैंत करै सेवा।

पौराणिक देवी-देवताओं में से डुग्गर में शिवजी का एक अपना विशेष स्थान है। डोगरी के लोक गीतों में शिवजी को भोलानाथ, शंकर आदि नामों से सम्वोधित किया गया है।

शंकर जी भोले भाले, गले च नाग पांदे ओ[2]

× × × × ×

शिव शंकर भोले नाथ, बूंदा बरस रेहियां,[3]
गौरां नै बी जी हरी-हरी मैंहदी
शिव भोले नै बी जी भंग, बूंदा बरस रेहियां।

डुग्गर का भोला जल मानस भी श्री राम जी को आदर्श मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप में ही पूजता है।

तार मिल्ली ने पाई श्री राम, प्यारे गी[4]
राम जी आओ बैर खोओ, कन्नै दर्शन देओ जी।

श्री कृष्ण भक्ति में भी जनमानस की बड़ी श्रद्धा है—

तार द्रोपती ने पाई अपने शाम प्यारे गी[5]
शाम जी आओ चीर बधाओ, कन्नै देओ स्हारे जी।

शक्ति पूजा भी डुग्गर में प्राचीन काल से प्रचलित है। जम्मू में बाहू के

---

1. डोगरी लोक गीत भाग—11 पृ०— 6
2. डोगरी लोक गीत भाग—11 पृ०—34
3. डोगरी लोक गीत भाग—13, पृ०—25
4. डोगरी लोक गीत भाग—11, पृ०—30
5. डोगरी लोक गीत भाग—11, पृ०—30

वाली माता, कटड़ा में वैष्णो देवी, विलावर में सुकराला देवी की मान्यता पूरे भारत में है तथा देवी के दर्शनों के लिए भक्त-जन दूर-दूर से आते हैं।

सुन शेरां वाली मां, प्हाड़ां वाली मां।[1]
दूरा-दूरा मेइया तेरे भगत जे आमदे, भगत जे आमदे
चरणें तेरे दे बिच सीस नुआमदे, सीस नुआमदे।

फुल्ल बरसान्दे मेइया,
भेटां चढ़ांदे मेइया,
धूफ धखांदे मेइया,
चरणें थमां जन्दे बलिहार जी।

जहां डुग्गर के जन मानस पर सगुण विचारधारा का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है वहां निर्गुण विचारधारा का प्रभाव भी स्पष्ट झलकता है। निर्गुण विचारधारा में शिव, शक्ति, राम, कृष्ण सभी नाम एक ही ब्रह्म के सूचक बन जाते हैं मनुष्य उसी परब्रह्म का अंश है तथा मूल से मिलने की तमन्ना उसे व्याकुल करती है। परमब्रह्म तो सर्वव्यापी है—

मन सै लगा ओ ममता दे झगड़े[2]
सिर माया दियां गड्डियां।
औं तेरे चरणें दी बो भुब्बली
किस गुनाहें औं तज्जियां।

× × × ×

में उचड़े-उचड़े मैंह्‌ल पोआन्नी आं[3]
सभनें थ्हारें तुस्सै महाराज।

डुग्गर में नवग्रह पूजन, अग्नि, जल, इन्द्र, वृक्ष, पशु-पक्षी, कन्या गुरू आदि की पूजा का भी प्रचलन है।

देई टिक्का चलेआ परोह्‌त गोड़ बंगाले गी जाई[4]
सांत रचाइयै नौ ग्रह पूजे जग रचाया भारी।
× × × ×

---

1. डोगरी लोक गीत भाग—11 पृ॰ : 10-11
2. जोत जगै दिन राती पृ॰—19
3. जोत जगै दिन रातीं पृ॰—25
4. डोगरी लोक गीत भाग—2

हाड़ म्हीनै सुद्धी आई ऐ[1]
पुन्नेआ दा ध्याड़ा
अज्ज न्हौगे गौरी-कुंड, कल्ल न्हौगे नाड़ा
मार छाली देवका ते पाप टलेआ साढ़ा ।

डुग्गर के जनमानस में तुलसी, आंबली, पीपल, साख, वे कदम्ब आदि के वृक्ष को बडा पवित्र माना जाता है तथा पूरी श्रद्धा तथा भक्ति भाव से इनकी पूजा की जाती है। पशु पक्षियों को भी देवताओं के समान पूजने की प्रथा डुग्गर में है। कई लोग शिवजी के नाम का बैल छोड़ते हैं। गोपालाष्टमी को गाय आदि की पूजा की जाती है। मृतक के मरने के चार साल बाद भाद्र पक्ष में जब पितरों का पूजन किया जाता है, तो सबसे पहले कौए की पूजा की जाती है। ऐसे भी चिड़ियों, कीड़े-मकोड़ों आदि को दाना डाला जाता है।

पौराणिक देवी-देवताओं, प्रकृति पूजा के साथ-साथ डुग्गर के जन-जीवन में कुलदेव पूजा की सबसे ज्यादा महत्ता है। लोक विश्वास है कि हर मुश्किल घड़ी से उनके कुल देवता ही उबारते हैं। कुल देवी तथा देवताओं के स्थान पर जाकर लौकिक विधि से उनकी पूजा की जाती है। वीर बलिदानी तथा संत महात्माओं की भी पूजा देवताओं की तरह की जाती है। हर गांव में बने देहरे-देहरियां, पीर-फकीरों की दरगाहें इस बात का प्रमाण हैं। झिड़ी गांव में "बुआ बावा", नगरोटे के पास "बावा भैड़", बीरपुर में "दाता रणपत", साम्बा में "सिद्ध स्वांखा" बावा सुरगल, गुरू गोरखनाथ, कालीबीर आदि के स्थान डुग्गर में जगह-जगह पर स्थापित हैं। डुग्गर के लोक जीवन में गुरू का भी बड़ा सम्मानपूर्ण स्थान है। गुरू की महिमा गाते लोक कवि कहता है—

गुरू जी आओ दर्शन देओ
कन्नै भव सागर कोला छड़ाओ जी[2]

गरूड़ पुराण में पांच प्रकार के यज्ञों का वर्णन हुआ है और डुग्गर प्रदेश में आज भी इनका प्रचलन है। चाहे ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ और भौतयज्ञ का प्रचलन कम हो गया है परन्तु खत्म नहीं हुआ है। डोगरी लोक गीतों में भी हवन-यज्ञ आदि का जिक्र हुआ है --

साढ़ी कनका गी लग्गी गेई सुसरी ओ मियां[3]
अस घ्योए दा हवन कराई देगे ओ मियां।

देवताओं को बलि चढ़ाने का नाम ही भौतयज्ञ है और डुग्गर में पशु बलि का प्रचलन आज भी है।

---

1. डोगरी लोक गीत भाग—1 पृ०—132
2. डोगरी लोक गीत भाग—11, पृ०— 30
3. डोगरी लोक गीत भाग—11, पृ०—137

भिड्डू जे बक्करे माता जोड़ियें लगदे[1]
मौती ने अरघ दुआया ।

× × × ×

झिक्का चढ़ी ए देवी ते प्हाड़ँ मन्नी ऐ[2]
बकरे खन्दी ऐ देवी ते वर दिन्दी ऐ
अर्ध बाहन्देआ जुआन्ना छन-छन बिज्जेआ बक्करा ।''

डुग्गर में संस्कार सम्बन्धी हर अवसर पर किया जाने वाला यज्ञ देव यज्ञ होता है। इसके अतिरिक्त भगवती दुर्गा की तृप्ति के लिए भी ''देवयज्ञ'' किया जाता है।

आज के मंहगाई के दौर में भी डुग्गर वासी अतिथि का स्वागत पूरे सम्मान के साथ करके ''नृयज्ञ'' सम्पन्न करते हैं। पितृयज्ञ भी डुग्गर में पूरी श्रद्धा से किया जाता है।

डुग्गर की जन-संस्कृति में व्रतों का विशेष महत्व है। यहां व्रतों का पालन धार्मिक दृष्टि से ही किया जाता है। व्रत-उपवास पुरुषों की अपेक्षा नारी वर्ग में ही ज्यादा रखे जाते हैं। पूर्णमाशी, जन्माष्टमी, रामनवमी, गोपालाष्टमी, तुलसी का व्रत, करवा चौथ, भुग्गे का व्रत, गणेश चतुर्थी बच्छ-दुआह् आदि तथा वर्ग वार व्रतों का है। जिनमें सोमवार, मंगलवार, शुक्रवार और शनिवार के दिन व्रत रखे जाते हैं।

व्रतों की चर्चा पर्व-त्योहारों के ज़िक्र के बिना पूरी नहीं होती। इनका चोली-दामन का साथ है और एक के बिना दूसरे का रूप स्पष्ट नहीं होता। यह एक दूसरे के पूरक हैं क्योंकि बहुत से त्योहार व्रतों-उपवासों के कारण ही मनाए जाते हैं। व्रत व त्योहार इस बात का अपवाद भी हैं। जैसे बैसाखी, लोहड़ी, दीवाली, उत्तरायण, वीर द्वितीया आदि को व्रत नहीं रखा जाता है।

मेलों की बात किए बिना तो पर्वों-त्योहारों का रंग ही नहीं निखरता। डुग्गर के भोले भाले जन मानस को इन त्योहारों का बड़ी बेसब्री से इन्तजार रहता है क्योंकि इन अवसरों पर मेले लगते हैं। मेलों पर जाकर लोग पुण्य और फलियां दोनों बटोरते हैं। क्योंकि अधिकांश मेले तीर्थ स्थानों पर लगते हैं। शिवरात्रि का मेला तो कई स्थानों पर लगता है। व्यास पूर्णिमा के त्योहार का मेला आषाढ़ मास की पूर्णिमा को बुद्ध सुद्ध नामक तीर्थ स्थान

1. डोगरी लोक गीत भाग—12, पृ०—170
2. डोगरी लोक गीत भाग—11, पृ०—183

पर लगता है। कार्तिक पूर्णिमा को हर वर्ष झिड़ी में बावा जित्तो के स्थान पर लगता है। जिसमें डुग्गर के अतिरिक्त पड़ोसी प्रदेश पंजाब से भी लोग हिस्सा लेते है। शुद्धमहादेव का मेला आषाढ़ मास की शुक्ल पक्ष की पूर्णिमा के दिन लगता है। बैसाखी के मेले में तो लोगों का उत्साह देखते बनता है। नवरात्रों के दिनों में भी देवी के स्थान पर प्रतिदिन मेला लगा रहता है! अन्तिम दिन विशाल मेला होता है। डुग्गर प्रदेश में होने वाले राष्ट्रीय और धार्मिक सभी मेलों का लोगों को इन्तज़ार रहता है तथा पूरे उत्साह से तैयारियां करके मेलों के लिए निकलते हैं।

रक्खड़ी मगरा टिक्का औंदा, लोह्‌ड़ी मगरा त्रैनी,[1]
लोक अहें परमण्डल जन्दे, न्हौंदे उत्तर वैह्‌नी।
लोह्‌ड़ी मगरा बसैंत जे औंदी, मगरा इत्त बसाखी।
थ्हारें-थ्हारें मेले लगदे खलकत होंदी खासी।
सराधें मगरा बच्छदुआह्‌, दुबड़ी मगरा नराते जी
बाहवै जाइयै सुक्खना सुखदे, वंडदे गुड़ पतासे जी।

× × × × ×

मेले दी लुमका ते गजरे दी ठुमका,[2]
ब्हार फिरी कनकां पक्कियां जी।
भागें ने होन सज्जने दे मेले
लाइयै डीकां रक्खियां जी

× × × ×

आया सुद्धी दा मेला, सुद्धी मिकी नुहाली जायां[3]
मेरे पाप खंघाली जायां।

संस्कारों के बिना तो कोई वस्तु भी सुन्दर और संस्कृत नहीं होती। इसलिए मानव जीवन में संस्कारों का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। हिन्दू धर्म में ऋषि व्यास जी ने सोलह संस्कारों का निर्देश दिया है। डुग्गर में उनमें से एक-दो का प्रचलन कम हो गया है। हिन्दुओं में ऐसे तो जन्म के पहले से लेकर मृत्यु उपरान्त तक संस्कार होते हैं परन्तु ठुआं या रीतां, पुंसवन, षष्ठी, पंजाब,

---

1. डोगरी लोक गीत भाग—15, पृ०— 14
2. डोगरी लोक गीत भाग—14, पृ०—151
3. डोगरी लोक गीत भाग—14, पृ०—152

सूत्तरा, मुण्डन, जनेऊ, विवाह आदि बड़े उत्साह और पूरी शास्त्र विधि से मनाए जाते हैं। यज्ञ, कुल देवता की पूजा और ब्रह्म भोज होता है। अपनी-अपनी जातीय परम्परा के अनुसार मुंडन, सूतरा आदि संस्कार किए जाते हैं। मृत्यु संस्कार भी शास्त्र विधि से किया जाता है, सिक्ख धर्म के संस्कारों और हिन्दू धर्म के संस्कारों में विशेष अन्तर नहीं है। हां, दस्तारबंदी अमृत 'छकना' जैसे संस्कारों की अपनी विशेष रंगत दृष्टिगोचर होती है। मांगलिक अवसरों पर गाए जाने वाले गीत सगे-सम्बन्धियों में एक उत्साह और उमंग भर देते हैं। इन गीतों में बधावा, बिहाई, घोड़ी तथा सुहाग प्रमुख हैं जबकि मृत्यु सम्बन्धी लोक गीत "लुहानी" कहलाते हैं। बधावा हर खुशी के अवसर पर गाया जाता है जबकि "बिहाइयां" पुत्र जन्म पर तथा बालक से सम्बन्धित संस्कारों पर गायी जाती हैं। "घोड़ी" विवाह संस्कार पर वर पक्ष में गायी जाती है और सुहाग कन्या पक्ष में।

डुग्गर में लोगों का पहनावा जलवायु के अनुसार होता है। ठंडे पहाड़ी इलाके में लोग अधिकतर गर्म ऊनी कपड़े पहनते हैं। जिसमें ऊनी कपड़े का बना पायजामा, कुर्ता, लम्बा कोट, टोप, वास्कट आदि मुख्य हैं। जबकि डुग्गर के मैदानी क्षेत्र के लोगों में पुरुष मुख्यतः कमीज, पायजामा या तहमत और पगड़ी पहनते हैं।

कुर्ता खद्दरे दा लाना[1]
ते साफा मलमलै दा जी ओ,

× × × ×

तैह्मत लट्ठै दा ब'न्ना
ते नुक्क फुम्मने दार जी ओ

× × × ×

पटे दी तम्बी मत लांदा[2]

....

पटे दी तम्बी मेरा उमरी दा लाब्बा
तेरी गल्ला किया छोड़ां ओ।
काला कोट मत लांदा

....

काला कोट मेरा उमरी दा लाब्बा, तेरी गल्लां कियां छोड़ां ओ।

---

1. डोगरी लोक गीत भाग—15, पृ०—78
2. डोगरी लोक गीत भाग—15, पृ०—74

महिलाओं के लिबास से विविधता दृष्टिगोचर होती है। उनमें कमीज, सुत्थन, घाघरा, गरारा, झग्गा आदि के साथ दुपट्टे का प्रचलन रहा है। अब यह लिबास खास-खास अवसरों पर पहने जाते हैं और आमतौर पर सलवार कमीज के साथ दुपट्टा ओढ़ा जाता है या साड़ी पहनी जाती है।

ग्राएं जनानियां सुत्थन लान्दियां[1]
शैह्रें जौम्पर ते सलवारां जी

× × × ×

सूही-सूही साटना दी सुत्थन सियाई दे[2]
मोराकीना दा मिगी झगुआ बनाई दे।

× × × ×

मेरा रेशमी गरारे बाला लक्क लोको[3]
कियां चढ़ना चम्बे दा ढक्क लोको।

× × × ×

सैल्ला सूट जाली दा दुपट्टा गुड्डो प्यारी[4]
आरें-पारें दिन्नी एं मरावण तेरी सोह्।

डुग्गर में ऋतु के अनुसार खान-पान में परिवर्तन होता रहता है। पहाड़ी इलाके में और ठंडे मौसम में मक्की, गेहूं आदि की रोटी के साथ हरे साग, दूध, दही मक्खन तथा शहद की प्रधानता रहती है जबकि मैदानी इलाके में भोजन में गेहूं, चावल, बाजरा, दालें, गुड़, दही, लस्सी, हरी सब्जियों का प्रयोग होता है। संक्षेप में डुग्गर निवासियों का भोजन सादा परन्तु पौष्टिक होता है। खास-खास अवसरों और पर्वों-त्योहारों पर विशेष पकवान बनते हैं जिनमें से कुछ एक के नाम इस प्रकार हैं—मिस्सी रोटी, बबरू, घयूर, रौंगी और मांह का मद्दरा, औरिया, पूरी, खीर, रूट्ट, चिल्ले, चरोलियां आदि। इन सब के अतिरिक्त मांसाहारी भोजन का प्रचलन भी है।

---

3. डोगरी लोक गीत भाग—12, पृ०—193
4. डोगरी लोक गीत भाग—12, पृ०—76
1. डोगरी लोक गीत भाग—15, पृ०—78
2. डोगरी लोक गीत भाग—15, पृ०—77

बाह्डिया बाजरे दी जाना[1]
ढोडा लस्सिया नै खाना

× × × ×

छल्लियें दियां रूट्टियां, ठंडड़ा पानी[2]
खाना पीना मिली करी थाई हे बो......
दाल दरबड़ी रिह्न्ने गोरी रिहन्ने भत्त ते बड़ियां ओ[3]
मेला दिक्खन शैहर जे जाना गोरी करदी अड़ियां ओ
मास-खरोड़े रिहन्ने गोरी, रिहन्ने भत्त-कचालू ओ
मेला दिक्खन शैह्र जे जाना लेई दे सूहा सालू ओ।
कढ़ी पकौड़े रिहन्ने गोरी, रिहन्ने भत्त ते शोले ओ,
मेला दिक्खन शैह्र जे जाना झूटे लैने हंडोलै ओ।

× × × × ×

न्हारी खाई लै घ्योऐ कन्नै[4]
ते जम्मुआ झगड़ा धियुए कन्नै।
न्हारी खाई लै मखीरै कन्नै
ते जम्मुआ झगड़ा फकीरै कन्नै।

डुग्गर के निवासी जहां खाने-पहनने के शौकीन हैं वहां उनके पास मनोरंजन के भी अनेक साधन हैं। बच्चों में लूताटापू, गिल्ली-डंडा, गोलियां, पंजीकड़ा, डंड-पला, अत्तर-पत्तर, संतोलिया आदि खेल बड़े लोकप्रिय हैं। जरा सी फुरसत मिलते ही खेलने के लिए झट इकट्ठे हो जाते हैं :—

चल मेरी ठीकरी खान्नै बछकार[5]
चल मेरी ठीकरी खान्नै पार (लूताटापू)

× × × ×

---

1. डोगरी लोक गीत भाग—15, पृ०—143
2. डोगरी लोक गीत भाग—15, पृ०—143
3. डोगरी लोक गीत भाग—12, पृ०—180
4. डोगरी लोक गीत भाग—14, पृ०—142—143
5. डोगरी लोक गीत भाग—14, पृ०—182

रोलियें दे रोल,[1]
बारी औनी साढ़े कोल। (पंजीकड़ा)

× × × ×

उग्गल-दुग्गल तंगे चोट,[2]
मेरी बांह्टा नि माई रोक (गोलियां)

बच्चों के अतिरिक्त बड़ों में ताश, चौंपड़ा, शतरंज जैसी खेलें बड़ी लोकप्रिय हैं। अक्सर गांव की चौपाल, संध आदि पर यह लोग इन खेलों में व्यस्त दिखाई पड़ते हैं। नौजवान शिकार आदि का शौक भी रखते हैं। खेलों के अतिरिक्त लोक गीत, लोक नाट्य, लोक कलाएं भी उनके मनोरंजन का केन्द्र हैं।

डुग्गर के जन-जीवन में कई लोक-विश्वास प्रचलित हैं। जिनमें भाग्यवाद, श्राप, पुनर्जन्म, जादू-झड़ियां, टोना-टोटका आदि प्रमुख हैं।

अन्ततः यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि अनेकता में एकता समाहित किये रहने वाली डुग्गर की जन संस्कृति अपने आप में न केवल समृद्ध है अपितु भारतीय संस्कृति की एक समृद्ध श्रृंखला भी है। □

---

1. डोगरी लोक गीत भाग—14, पृ०—182
2. डोगरी लोक गीत भाग—14, पृ०—184

डुग्गर की लोक कथाएं

□ शिवदेव मन्हास

"लोक-कथा" शब्द लोक-प्रचलित उन कथाओं के लिए प्रयुक्त होता है जो मौखिक परम्परा द्वारा निरन्तर एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को प्राप्त होती रहती है।[1]" मानव के अतीत से लोक कथाओं का अटूट सम्बन्ध रहा है। आज विज्ञान ने मानव को मनोरंजन के कई साधन दे दिए हैं। कॉमिक्स, टेलिविजन व चलचित्रों के कारण आज कथाकार उपेक्षा का पात्र हो गया है पर एक समय था, जब लोक-कथाएं ही ज्ञान व मनोरंजन का साधन थीं। लोग अपनी दिनचर्या से निबट कर जा बैठते थे, किसी 'कथक्कड़' (कथाकार) के पास और दूसरी ओर कथाकार भी ज़रा-सा नाज-नखरा दिखा कर कोई कथा सुनाने लग जाता था, "एक बार की बात है ....."

लोक कथाएं प्रायः बच्चों के लिए ही रची जाती हैं। क्योंकि उनमें ही हर बात को समझने या जानने की जिज्ञासा होती है। एक कथा के माध्यम से कथाकार असंख्य नई बातों का श्रोताओं को बना देता है। यह नई बातें श्रोताओं के ज्ञान के क्षितिज को वृहत् आकार देती हैं—उनका मनोरंजन करती हैं। इस प्रकार बच्चों या श्रोताओं का जी-बहलावा भी हो जाता है व उन्हें सहज शिक्षा भी मिलती है। प्राय. हर लोक कथा किसी न किसी स्थान विशेष से अवश्य जुड़ी होती है। उसमें स्थानीय लोक जीवन की छाप स्पष्ट झलकती है। लोक कथाओं में वहां के रीति-रिवाज, रहन-सहन, धार्मिक विश्वास, अन्ध-विश्वास, पूजा-पाठ आदि असंख्य बातें इस प्रकार विद्यमान होती है, ज्यों हाड़-मांस के शरीर में प्राण। इनके बिना लोक कथाओं की भला क्या बिसात ? किसी भी प्रदेश की संस्कृति के बारे जानना हो तो लोक कथाएं बड़ी उपयोगी सिद्ध होती हैं। लोक कथाओं के द्वारा ही किसी प्रदेश की संस्कृति से साक्षात्कार सम्भव है।

---

1. डॉ० सन्त राम अनिल, कन्नोजी लोक साहित्य, पृ० 168

लोक-कथाओं में सार्वलौकिकता का गुण सर्वोपरि देखने को मिलता है। एक प्रदेश की लोक-कथा दूसरे प्रदेश में जाकर रच-बस जाती है। यह लोक-कथाएं जिस प्रदेश में पहुंचती हैं, वहीं का पहनावा ओढ़ लेती हैं। तब उन्हें अलग से पहचान पाना कठिन हो जाता है। मानव भले ही कहीं पर किसी भी स्थान पर रहे—भले ही विभिन्न-विभिन्न भाषाएं बोले। पर उसकी विचार-धारा, भाव, समस्या युगों से एक सी हैं—एक सी ही रहेंगी। यही मानवीय गुण लोक कथाओं को सजीवता प्रदान करते हैं। पुरानी कथाएं नया कलेवर धारण करके तथा नए समाज की छाप लेकर नए रूप में प्रकट होती हैं और यही नवीनता इनका जीवन है।''[1]

लोक कथाएं एक स्थान से दूसरे स्थान पर कैसे पहुंचती हैं? इसके बारे में लोक साहित्य के विद्वानों का मत है कि बन्जारे, यात्री, व्यापारी, साधु-संत व सैनिक आदि एक प्रदेश की लोक कथा को दूसरे प्रदेशों तक लाते ले जाते हैं। बारीकी से जांच पड़ताल करने पर इस मत की पुष्टि भी लोक-कथाओं द्वारा हो जाती है। ऐसी असंख्य लोक कथाएं मिलेंगी, जिनमें नायक परदेस जाता या समुद्र पार व्यापार करने जाता हुआ वर्णित किया गया मिलता है। यही इसकी प्रामाणिकता है।

देश काल की कोई भी सीमा लोक कथाओं पर लागू नहीं होती।

लोक-कथाएं कभी अपने श्रोताओं को पथभ्रष्ट नहीं करतीं। इनमें सामाजिक तत्वों की प्रधानता होती है व इन तत्वों का वैसा ही चित्रण होता है जैसे मूल रूप से समाज में विद्यमान हों। इनका समाज, व्यक्ति, स्थान व परिवेश के अनुसार नहीं बदलता। कई बार राजा इतना निर्धन हो जाता है कि उसे उबले चावलों का पानी पी कर निर्वाह करना पड़ता है तथा उसके पास कुल सम्पत्ति दो पैसे ही होती है।''[2]

ऐसे ही कहीं-कहीं रानी चर्खा कातती है राजा मिट्टी ढोता है या कुएं से पानी भर लाता दिखता है। लोक-कथाओं में राजा भी उतना महत्व रखता हैं जितना कि एक मजदूर। एक मूर्ख व्यक्ति भी लोक कथाओं के लिए उतना ही आवश्यक पात्र है जितना कि एक विद्वान व अकलमंद। लोक-कथाओं की इस उदारता की कोई सीमा नहीं है।

''कथा जगत में नित नए प्रयोग हो रहे हैं। कथा-कहानी के अंत के विषय में आज तक कोई स्थायी धारणा नहीं बन पाई है। पर लोक-कथाएं इस झंझट से सर्वथा मुक्त रही हैं। इनका अंत सदैव सुखद होता है। ऐसा सदियों से

1. डॉ० सन्तराम अनिल, कन्नौजी लोक साहित्य, पृ० 169,
2. नागवनी (लोककथा, भाग—12) अकलमंद गोल्ली, पृ० 81

होता आ रहा है। शायद इसी बात ने लोक-कथाओं को यौवनावस्था में रखे रखा है तथा इन के रूप सौंदर्य को कम नहीं होने दिया है।[1]

जिस लोक-कथा को हम सहज ही अपनी दादी, नानी या किसी कथाकार से सुन लेते हैं यदि उस कथा की उत्पत्ति के बारे में खोज-पड़ताल करें तो हमें हैरानी ही होगी, अनुसंधानकर्ताओं ने तो लोक-कथाओं के ऋग्वेद काल तक प्राचीन होने के प्रमाण जुटा लिए हैं।[2] ऋग्वेद को विश्व में सबसे आदि ग्रंथ की मान्यता दी गई है। लोक-कथाओं ने हम तक पहुंचने में कितनी लम्बी यात्रा तय कर ली है यह सोच कर आश्चर्य होता है।

ऋग्वेद के अतिरिक्त ब्राह्मण ग्रंथों जैसे शतपत ब्राह्मण में पुरूरवा उर्वशी कथा, तांडव ब्राह्मण में च्यवन, भार्गव व सुकन्या मानवीय, ऐत्तरेय ब्राह्मण में शुनः शेप के आख्यान तथा उपनिषदों में गार्गी—याज्ञवल्क्य व सत्यकाम जावल सवाद, कठोपनिषद् में नचिकेता की कथा, केनोपनिषद् में अग्नि व यज्ञ की कथा आदि का सम्बन्ध भी लोक कथाओं स ही जोड़ा जाता है। इनके अतिरिक्त कुछ और प्राचीन ग्रंथ जिनमें लोक-कथाओं के बीज-बिंदु मिलते हैं वे इस प्रकार से हैं :

1. वृहत्कथा गुणाढ्य
2. पंचतंत्र
3. हितोपदेश
4. वेताल पंचासिका
5. माधवानल कथा
6. सिंहासन द्वत्रिशिका आदि

लोक-साहित्य की इतनी प्राचीन विधा के बारे में निश्चित तौर पर कुछ नहीं कहा जा सकता कि इनका जन्म कब हुआ होगा? पर इतना अवश्य है कि आदि मानव की अभिव्यक्ति वाले युग से ही इन लोक कथाओं का उद्भव हुआ।

कुछ वर्ष पूर्व जापान की विदुषी श्रीमती 'नोरिको' ने अमरीका के एक विश्वविद्यालय पैनासिलवोनिया से डोगरी लोक-कथाओं पर शोध कार्य किया था। उन्होंने जम्मू के कुछ इलाकों को शोध के लिए चुना। वहां से चार सौ

---

1. विश्वनाथ खजूरिया, डुग्गर दियां लोक कत्थां, (शीराजा डोगरी), पृ० 16
2. डॉ० गोविन्द रजनीश; राजस्थान के पूर्वी अंचल का लोक साहित्य, पृ० 161

के करीब लोक कथाएं एकत्रित कीं। उनके अनुसार डुग्गर की धरती पर कम से कम चार हजार लोक कथाएं और इकट्ठी की जा सकती हैं। अपने एक लेख में उन्होंने यह भी उल्लेख किया है कि "डोगरी लोक कथाएं बर्मा व मलाया देश तक भी जा पहुंची हैं। रूडयार्ड किपलिंग व आर० एल० स्टीवेन्सन द्वारा संकलित लोक कथाओं में भी एक-एक डोगरी लोक-कथा छपी है।[1]

डोगरी लोक-कथाओं की अब तक तेईस किताबें छप चुकी हैं। इनमें से तेरह किताबें जम्मू-कश्मीर की कल्चरल अकैडमी द्वारा प्रकाशित की गई हैं। प्रो० राम नाथ शास्त्री के अनुसार जो संग्रह व्यक्तिगत प्रयासों से छपे हैं, वे महत्वपूर्ण हैं। उनमें से छः संग्रह भौगोलिक तत्वों की दृष्टि से अपनी विशेषता रखते हैं। वे डुग्गर के किन्हीं खास स्थानों की नुमांयदगी करते हैं।[2]

लोक संपदा, विशेष कर लोक कथाओं को इसी आधार पर संग्रहित करने की आवश्यकता है। अन्यथा, आधुनिकीकरण में यह लुप्त हो जाएंगी।

डोगरी लोक कथाओं में निम्नलिखित विशेषताएं देखने को मिलती हैं।

1. सरलता
2. सब का भला चाहना
3. संस्कारगत परिकल्पनाओं का वर्णन
4. जिज्ञासा
5. चमत्कार
6. गेयता
7. हास्य
8. मानवीय गुणों का सरल व सच्चा रूप
9. सुखान्त

1. **सरलता**—डोगरी लोक कथाएं भाषा एवं गठन की दृष्टि से सरल मिलती हैं। सरलता लोक-कथा को रोचक बनाने में सहायक होती है। डोगरी लोक-कथाओं में उदाहरणस्वरूप भी क्लिष्ट भाषा अथवा विषय की लोक-कथा नहीं मिलती।

2. **सब का भला चाहना**—डोगरी लोक-कथाओं के अंत में कथाकार आमतौर से यह वाक्य बोलता है—"जियां इ'न्दे दिन फिरे, उंआं गै परमात्मा

---

1. विश्वनाथ खजूरिया, डुग्गर दियां लोक कत्थां, (शीराजा डोगरी), लेख कविता अंक, पृष्ठ 10)
2. प्रो० रामनाथ शास्त्री, डोगरी लोक कत्थें दा वर्गीकरण, (शीराजा डोगरी), फरवरी-मार्च 1986, पृष्ठ—2

सभनें दे दिन फेरै ।" लोक कथाएं सब के हित व मार्ग दर्शन के लिए रची व सुनाई जाती हैं।

3. **संस्कारगत परिकल्पनाओं का वर्णन**—डोगरी लोक-कथाओं में संस्कारों, विश्वासों, अन्ध विश्वासों, धार्मिक भावनाओं आदि को विशेष स्थान प्राप्त होता है। इन लोक-कथाओं से डुग्गर प्रदेश की संस्कृति की सहज ही जानकारी हासिल की जा सकती है।

4. **जिज्ञासा**—जिज्ञासा को लोक-कथा का महत्वपूर्ण तत्व माना गया है। कौतूहल न होने से कथा नीरस, बोझिल व फीकी लगने लगती है। डोगरी लोक-कथाओं के कथाकार कथा कहते-कहते कहीं-कहीं इतनी रोचकता ले आते हैं कि श्रोता उतावले हो जाते हैं और कथाकार के रुकने पर पूछ बैठते हैं—"अग्गै के होआ ?" जिज्ञासु के बार-बार पूछने पर कथाकार चिढ़ता नहीं है बल्कि उसे भी कथा में रसास्वादन होने लगता है।

5. **चमत्कार**—डोगरी की हर लोक-कथा में कुछ न कुछ चमत्कार अवश्य होता है। इसे कथाकार का 'मसाला' भी कहा जाता है। लोक मानस के जीवन में चमत्कार नहीं के बराबर होता है पर जब वह लोक कथा के पात्र को चमत्कारों से जुड़ा पाता है तो उसे आत्म-संतुष्टि होती है। लोक-कथाओं का पात्र जब उड़ने वाला घोड़ा किसी परी से पाता है तो श्रोताओं को लगता है अब समस्या हल हो गई। वह कथाकार के साथ कल्पना-लोक में विचरने लगता है। कल्पना-लोक में रहने से उसकी कई अतृप्त इच्छाएं शांत होती हैं। यही कारण है कि वह अनहोनी बातें सुनकर भी चुप रहता है। (श्रीचन्द जैन, लोक-कथा विज्ञान पृ० 58)

6. **गेयता**—डोगरी लोक-कथाओं की एक बड़ी संख्या ऐसी लोक कथाओं की है जिनमें काव्यात्मकता का पुट प्रबल होता है। छोटी आयु के श्रोता ऐसी कथाओं को पसन्द करते हैं व इनको कथाकार (दादी या नानी) से बार-बार फरमायश करते हैं। नन्हें श्रोताओं को चिड़िया के बोल, गीत के रूप में सुनना अच्छा लगता है—

ए जट्टिये
तेरे जट्टा गी कैद कराई आई,
में माणी दाने लेई आई,
में पैरें घुंघरू पाई आई।
ए जट्टिये।

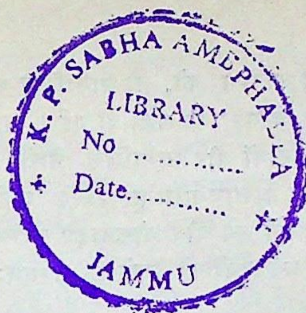
7. **हास्य**—डोगरी लोक-कथाओं में हास्य कथाओं की भी भरमार है। शेख चिल्ली, नकम्मा, फत्तु, कंजूस-शाह, मरासी, भण्ड आदि हास्य कथाओं

के पात्र हैं। यह पात्र हंसी के पिटारे होते हैं। इनके संवाद ठहाकों से भरपूर होते हैं।

8. **मानवीय गुणों का सरल व सच्चा रूप**—डोगरी लोक कथाओं के पात्र दोहरे पात्र नहीं होते। अच्छे पात्र सिर्फ अच्छे होते हैं व बुरे पात्र सिर्फ बुरे। यही कारण है कि डोगरी लोक कथाओं में चित्रित राजकुमार जिस राजकुमारी से प्रेम करता है उसे आजीवन प्रेम करता रहता है। जब वचन देता है तो वचन निभाता है। डोगरी लोक कथाओं में भाई-भाई का प्यार, भाई-बहन का प्यार, पति-पत्नी का प्रेम, बड़ी खूबसूरती से चित्रित हुआ है। यह प्यार समय के साथ बदलता नहीं।

9. **सुखान्त**—प्राचीन भारतीय नाटकों की तरह डोगरी लोक-कथाएं सुखान्त रूप में ही मिलती हैं। नायक या नायिका भले ही शुरू में कठिनाइयां झेलते हैं पर अन्त हमेशा सुखद ही होता है। साहित्य की एकमात्र यही विधा ऐसी है जो सुखांत वर्णित हुई है।

लोक-कथाओं की सम्पदा सदियों से लोक मानस का मनोरंजन करती आ रही है, उसका मार्ग दर्शन करती आ रही है। अब समय आ गया है इस सम्पदा को आधुनिकता से बचाने, वैज्ञानिक साधनों द्वारा एकत्रित करने तथा अध्ययन विश्लेषण करने का। □



जम्मू का लोक-नाट्य

□ आशा अरोड़ा

अनादिकाल से ही मानवीय मानसिकता अपने मनोरंजन हेतु अनेक तरह की खोजों में लगी रही है। यह खोज निरंतर जारी है। आज से लगभग बीस हजार साल पहले यह मानवीय अभियान शुरू हुआ था जो आज तक चल रहा है। पूर्वी यूरोप के अनेक देशों में ऐसी चट्टानें मिली हैं जिन पर आदि मानव ने अपनी भावाभ्यक्ति की है। नृत्यरत मानवीय आकृतियां, विभिन्न मुखौटे लगाए मानवीय रूप इन चट्टानों पर समय-समय पर उकेरे गए हैं और इन्हें रंगा गया है। इन्हें शैलचित्रों की संज्ञा दी जाती है। वस्तुत: इन चित्रों के माध्यम से आदि मानव ने इन्हीं भाव-भंगिमाओं द्वारा अपने मानस को दर्शाया है। आस्ट्रिया में पाई जाने वाली ऐसी चित्रित शिला को खोज निकाला गया है जिस पर एक बारहसिंहा का मुखौटा लगाए भैंसे की खाल ओढ़े तथा घोड़े की दुम लगाए मानवीय आकृति को नृत्यरत दिखाया गया है। 'त्रोया' नाम के इस स्थान पर पाए जाने वाले इस शैलचित्र को प्रतीकात्मक रूप में लिया गया है। विद्वानों का मत है कि यह नृत्य किसी धार्मिक अथवा सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति करता है और इस नृत्य का ध्येय मात्र मनोरंजन नहीं है अपितु इसके पीछे कोई सांस्कृतिक पहलू रहा है। इसकी अवधि लगभग बारह हजार वर्ष ईसा पूर्व रहा है। शायद लोकनाट्य मानवीय परम्परा का यह प्रथम सोपान रहा होगा। किन्तु यह इस परम्परा का पहला मील पत्थर था जिसे अभी कई दूसरे आयामों को पार करना था।

लोकनाट्य परम्परा एक परम्परा के रूप में लगभग छः हजार वर्ष पहले यूनान में शुरू हुई। जब सांस्कृतिक चेतना के नए मंच स्थापित होना शुरू हो गए थे। सामाजिक श्रृंखलाएं अपना नया रूप धारण कर रही थीं और मनोरंजन के नए साधनों की ओर उस समय का व्यक्ति उन्मुख था। यूनान में आधी रात के समय मशालों को हाथ में पकड़े घेरे में खड़े युवक-युवतियों ने समूहगान

की परिपाटी आरम्भ की, जो सामाजिक कम धार्मिकता को ज्यादा पूरता था। बाद में इन्हें 'कॉयर' की संज्ञा दी गई। यही 'कॉयर' बाद में परम्परा के रूप में पर्वों, अनुष्ठानों और सामाजिक मेलों में महत्व पाने लगा और धीरे-धीरे इस समूहगान के साथ-साथ हाव-भाव शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों द्वारा संकेत आदि भी मिलने लगे और लोकनाट्य परम्परा ने जन्म लिया। आज जो स्वरूप हम भिन्न-भिन्न मंचों पर देखते हैं वस्तुतः इसके उत्स में वही यूनानी मंच कहे जा सकते हैं।

भारत में लोकनाट्य परम्परा अति प्राचीन समझी जाती है। जिन शैल-चित्रों की हमने ऊपर बात की है, वे भारत के अनेक स्थानों पर पाए गए हैं विशेष कर पर्वतीय क्षेत्रों में—शिवालिक पहाड़ियों की कन्दराओं में, लघु हिमालय की तराईयों में एवं अनेक मैदानी इलाकों में भी इस तरह के हजारों वर्ष पुराने उकेरे गए शैलचित्र पाए गए हैं। इन शैलचित्रों के घेरे में नृत्यरत एक दूसरे का हाथ पकड़े मानवीय आकृतियां उकेरी गई हैं। कहीं-कहीं पर जानवरों के मुखौटे लगाए मानवीय आकार भी दर्शाए गए हैं। हम यह कह सकते हैं कि भारतीय जनमानस में विद्यमान लोकनाट्य परम्परा का यह प्रथम स्वरूप रहा होगा। धीरे-धीरे सांस्कृतिक चेतना का उदय हुआ। ईश्वरीय शक्तियों के अनेक रूप सामने आए और उनके साथ ही उन्हें प्रसन्न करने के लिए अनेक लोकनाट्य धाराएं प्रवाहित होने लगीं। नई नाट्य मुद्राओं का विकास हुआ और लोकनाट्य परम्परा शास्त्रीय नाट्य परम्परा की ओर अग्रसर होने लगी। अक्सर धार्मिक आस्थाओं के साथ-साथ सामाजिक परिवेश भी बुने जाने लगे और मानवीय विडम्बनाओं की अभिव्यक्ति लोकनाट्यों में होने लगी। इनकी भाषा जनसाधारण की भाषा होती, जिसे आम आदमी समझ सकते और उसका लुत्फ उठा सकते। धीरे-धीरे अनेक स्थानों पर इनकी अनेक शैलियां उभरने लगीं और व्यंग्य एवं कटाक्ष इनमें हावी होने लगे। भिन्न-भिन्न स्थानों पर इसके कई रूप उभरे और उन्हें विशेष संज्ञाओं से संज्ञायित किया जाने लगा, उदाहरण के लिए यात्रा, नौटंकी, स्वांग, तमाशा, रासलीला आदि। स्वांग तथा तमाशा में अक्सर किसी विषय अथवा पात्र पर व्यंग्य करने के लिए उनकी नकलें उतारीं जाती कि दर्शक हंसते हुए लोटपोट हो जाते। नौटंकी आदि में भी व्यंग्य का पुट मुखरित होने लगा। पंजाब, राजस्थान, हरियाणा आदि में 'भांड' नाम से पात्रों का एक कारवां जनसाधारण की आकांक्षाओं को मुखरित करने लगा। यह लोग बहुत सीधे-सादे विषयों को लेकर ऐसे संवाद बोलने लगे कि यह संवाद जनसाधारण के मानसपटल पर रच बस गए और लोग इन्हें खूब चाव से सुनने लगे। विवाह-शादियों तथा अन्य सामाजिक उत्सवों में आमंत्रित किया जाने लगा कि पंजाब में एक समय ऐसा आया कि इन भांडों के बिना मानों शादी-विवाह में इनका आना अनिवार्य माना-

जाने लगा। इसका प्रभाव जम्मू तथा उसके आसपास के स्थानों पर भी पड़ा और इनका क्षेत्र यहां तक फैल आया।

'भांड' शब्द वस्तुतः पंजाबी के शब्द 'भंड' से लिया गया है जिसका अर्थ मसखरा लिया जा सकता है। वस्तुतः यह लोग मसखरापन लिए होते हैं। अक्सर यह दो पात्र होते हैं—एक प्रश्न करता है तो दूसरा हास्य-स्थिति उत्पन्न करता हुआ, उत्तर देता है। उत्तर इतने तीक्ष्ण हास्य स्थितियों को लिए होते हैं कि सारे दर्शकों एवं श्रोताओं को हंसी से लोटपोट कर देते हैं। अतः प्रश्न पूछने वाला उसके उत्तर पर उसे हाथ में पकड़े (चमड़े के पट्टे) चर्म से पीट डालता है। कई बार यह भांड बहुरूपिये बन कर भी अपनी भाव-भंगिमाओं द्वारा श्रोताओं को हंसाते हैं। वस्तुतः लोकनाट्य की यह परम्परा को डुग्गर प्रदेश उद्धृत अनुकृत परम्परा कहा जा सकता है। लोकनाट्य परम्पराओं में रासलीलाओं का अपना स्थान रहा है। डुग्गर के इस प्रदेश में लगभग हर स्थान पर 'मंडुए' एवं लोक मंच बने हुए हैं जहां कई प्रकार की रासलीलाएं मंचित की जाती हैं। रासलीला और कृष्णलीला दो ऐसे विषय हैं, जिन विषयों पर अक्सर लोकनाट्य परम्पराएं पनपी हैं। पर इनकी भाषा अक्सर फ़ारसी युक्त उर्दू होती है। वस्तुतः रासलीला की देन भी डुग्गर प्रदेश की अपनी देन नहीं है। अक्सर समय-समय पर यहां रासधारी दूसरे स्थानों से आते रहे हैं और इन रासधारियों से यहां के स्थानीय लोगों ने न केवल प्रभाव ग्रहण किए हैं अपितु उनके अनुसार ही अपने मंच भी स्थापित किए हैं। रामलीला के ऐसे मंच डुग्गर प्रदेश के गांव-गांव में फैले हैं और कहीं-कहीं अपनी धरती की गंध को भी साथ लेकर चलते हैं। बसोहली और रामनगर दो ऐसे प्रदेश हैं जहां की रामलीलाएं अपने स्थानीय प्रभाव को लेकर मुखरित हुई हैं। इन्हीं मंचों के माध्यम से डोगरी प्रहसन भी उपजा। होता यह था कि रामलीला के दृश्यांकन के बीच-बीच में खाली अवधि को भरने के लिए स्थानीय साहूकारों तथा-कथित नेताओं एवं घमण्डी मुखियों तथा रूढ़ियों पर स्थानीय भाषा में आक्षेप किए जाते और उन्हें मंचित कर खाली समय को भरा जाता। यही लोकनाट्य परम्परा जो मात्र समय को पूरा करने के लिए शुरू हुई। धीरे-धीरे अपना अलग से स्वरूप बनाने लगीं। आज इनका निरंतर मंचन हो रहा है। अब तो कहीं-कहीं पर डोगरी में भी रासलीलाएं मंचित की जाती हैं।

जम्मू और हिमाचल के क्षेत्रों में 'भगतां' नामक लोकनाट्य परम्परा मौलिक और स्थानीय स्थितियों की देन कही जा सकती है। वस्तुतः इस नाट्य परम्परा में भी हास्य स्थितियों का निराकरण किया जाता रहा है। रूढ़ियों, कुटिल व्यक्तियों तथाकथित समाज के ठेकेदारों, धूर्त बिचोलियों, पुरोहितों एवं अपने ही घर से जुड़े हुए झूठे रिश्तों को 'भगतां' में विषय चुन लिया जाता और

भगत जो पात्र होते इनका निर्वाह अपने ढंग से करते। अक्सर लय तथा गति इनके संवादों में होती और यह अपनी भाव-भंगिमाओं द्वारा हंसोड़ दीखते। कई बार पद्य के माध्यम से वे अपने संवाद कहते। कांगड़ा में तो रास-लीलाओं का इस नाट्य परम्परा पर अत्यधिक प्रभाव झलकता है। पर कहीं-कहीं पर स्थानीय समस्याओं को भी इनमें उभारा गया है। उदाहरण के तौर पर तम्बाकू पीने वाले की एक नकल लगाते हुए 'भगतां' के दो पात्र एक भगतीया पुरुष पात्र है तो दूसरा स्त्री। पद्य में संवाद कहते हुए वे एक-दूसरे से इस तरह संबोधित करते हैं—

"मत पिया करैं चिलम तमाकुए दी मत पिया करैं।
'मैं तां पीणी ऐं चिलम तमाकुए दी मैं तां पीणी।'
'जे तूं पीणी ऐं चिलम तमाकुए दी तां मैं मापिया दे।
तां मैं मापियां दे चली जाणां ओ वई के रोआ कर।
'जे तूं मापियां दे चली जाणा ओ तां में जंगलां च।
तां मैं जंगलां धूण रमाई ओ लेणा वई के रोआ कर।
वई के रोआ कर धम धियाड़ियां जो वई के रोआ कर।"

इस प्रदेश में लोकनाट्य परम्परा का एक रूप शादी के समय महिलाओं द्वारा एक सहज अभिव्यक्ति है। अक्सर लड़के की शादी के समय जब बारात चली जाती है तो पीछे महिलाएं ही घर में रह जाती हैं जो अनेक प्रकार की नकलें कर रात भर तमाशे करती हैं, नाचती हैं। यह समय इतना मनोरंजन पूर्ण होता है कि सारी रात यूं ही चुटकियों में बीत जाती है किन्तु इसका आनन्द केवल महिलाएं ही ले सकती हैं, पुरुष नहीं। पुरुषों को भीतर नहीं आने दिया जाता। इस आयोजन को 'जागरना' की संज्ञा दी जाती है। अक्सर 'जागरना' में स्त्रियां भेस बदल कर तरह-तरह की भाव-भंगिमाओं द्वारा लड़के की मां-बाप, मामा-मामी और दूसरे रिश्तेदारों की नकल उतारते ऐसी स्थितियां पैदा कर देती हैं कि देखने वाले हंसी से लोटपोट हो जाएं।

इसके अतिरिक्त कुछ पर्व-त्योहारों पर स्थानीय नाट्य परम्परा का रूप सामने आता है जैसे लोहड़ी के त्योहार पर लोग बहुरूपिये बन कर घरों में जाते हैं और स्वांग रचते हैं। स्त्री-पुरुष हिरण बनते हैं, घेरे में नाचते हैं, छज्जों के माध्यम से ढोल बजाते हुए नृत्य करते घर-घर जाकर मांगते हैं। इसी तरह होली पर्व पर भी लोग हाथों में गुलाल व रंग लेकर एक दूसरे के घर जाते, रंग मलते और नृत्य करते हैं व गीत गाते हैं। इस पर्व पर भी स्वांग रचे जाते है। होली के तुरन्त बाद वसंत पंचमी पर पीले वस्त्र धारण कर स्त्री-पुरुष समूह में नाचते

व गाते हुए नकल उतारते हैं। लोकनाट्य का कुछ हिस्सा यद्यपि खंडों में हम प्राप्त करते हैं परन्तु इसे हम नकार नहीं सकते।

यद्यपि लोक नाट्य मंच के उपर्युक्त रूप आज अपनी समग्र चेतना के साथ विद्यमान नहीं हैं परन्तु इनका अनुसंधान ऐतिहासिक महत्व रखता है आज मात्र रामलीला के कुछ अंशों तथा रासलीलाओं के दूसरे रूपों को छोड़कर और कोई भी स्थायी लोकनाट्य परम्परा का पहलू इतना मुखरित नहीं है। इसके विपरीत लोक संगीत, लोककला और लोक साहित्य, लोकनाट्य परम्परा से कहीं अधिक मुखरित और सशक्त रूप लिए हुए हैं।

□

डुग्गर के लोकगीत

☐ डा० वीणा गुप्ता

लोक गीत हमारे सामाजिक, धार्मिक, पारिवारिक, विकास के इतिहास के संरक्षक तथा हमारे लोक जीवन का पूर्ण प्रतिबिम्ब हैं। आदि मानव की प्रत्येक गतिविधि तथा स्पन्दन इन गीतों में मुखरित हुआ है। उसके कण्ठ से जो निःसृत भाव किसी अवसर पर प्रस्फुटित हुए होंगे वही धीरे-धीरे गीत के रूप में बढ़े-पनपे और अग्रसर हुए। अतः मानव जीवन के सच्चे इतिहास एवं उसके सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, आर्थिक, सांस्कृतिक आदि सभी पक्षों का पूरा-पूरा अवलोकन लोकगीतों में सहज ही किया जा सकता है। जीवन के सुन्दर एवं असुन्दर दोनों पक्षों का यथार्थ चित्रण लोकगीतों की परम विशेषता है। जहां एक ओर इनमें लोक जीवन का सरल एवं आदर्श तथ्य परिव्याप्त रहता है, वहां दूसरी ओर तत्कालीन समाज में व्याप्त कुरीतियों का वर्णन भी सहज ही मिलता है। कहना न होगा कि जीवन की यथार्थ, तीव्र एवं सामूहिक अनुभूतियों से निःसृत ये लोक गीत सर्वत्र एवं सर्वदा एक समान रहते हैं, जो न कभी पुराने पड़ते हैं और न ही नवीनतम प्रतीत होते हैं, अपितु, शाश्वत मूल्यों के कारण "जंगल के उन वृक्षों के समान होते हैं, जिनकी जड़ें तो धरती में दूर धंसी होती है, किन्तु नित्य नई कलियां, नए पत्ते और फूल धारण करते रहते हैं।"[1]

यह कहना अनुचित न होगा कि किसी प्रदेश, जाति व समाज अथवा राष्ट्र की लोकगीत परम्परा उतनी ही प्राचीन होती है जितना प्राचीन उसका आदि-मानव। इस दृष्टि से डुग्गर की लोकगीत परम्परा के विषय में भी यह कहना स्वाभाविक है कि डुग्गर की लोकगीत परम्परा तभी से चली आ रही है जब से

---

1. A folk song is neither new world it is like a forest tree with in roots deeply buried in the past but which continuately puts forth new branches, new leaves, new fruits.'' Encyciopaedia Britanica; Vol. IX ; P. 445

डुग्गर, डोगरे और डोगरी । किन्तु जहां तक डोगरी लोक गीतों में प्रतिबिम्बित विषय-वस्तु का प्रश्न है, वह डोगरी भाषा के प्राचीनतम रूप वैदिककालीन गाथाओं एवं मध्यकालीन प्राकृतपालि—अपभ्रंश कालीन गीतों की विषय-वस्तु से भिन्न नहीं । यहां यह स्पष्ट करना अनिवार्य है कि ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में ''गाथा'' शब्द का उल्लेख पद्य या गीत के अर्थ में लिया गया है और इन गाथाओं में प्रकृति पूजा, देवी-देवताओं की स्तुति, चरखा कातने, माल-मवेशी चराने, विवाह की मंगल-कामनाएं, बालक जन्म, विष झाड़ने, मृतकों की आत्मिक शान्ति आदि जन-सामान्य के जीवन सम्बन्धी अनेक विषयों का उल्लेख हुआ है । डोगरी लोक गीतों में भी मुख्यतः यही विषय मुखरित हैं । प्रकृति-पूजा एवं देवी-देवताओं की स्तुति-आराधना के अतिरिक्त जन्म, विवाह, मृत्यु आदि संस्कारों; ऋतु-बहारों; पर्वों-उत्सवों; कृषि, चरखा, चरवाहों; पारिवारिक-जीवन; दैनिक जीवन आदि की सहज अभिव्यक्ति का डोगरी लोक-गीतों में चरम उत्कर्ष है ।

अब तक डोगरी लोक गीतों के क्षेत्र में संकलन एवं संपादन कार्य पर्याप्त मात्रा में हो चुका है । जम्मू व कश्मीर कला, संस्कृति एवं साहित्य अकादमी का इस कार्य में महान् योगदान रहा है । अब तक डोगरी लोक गीतों की सोलह जिल्दों में हजारों लोकगीतों का संकलन, संपादन और प्रकाशन हो चुका है । इसके अतिरिक्त शीराजा डोगरी (द्विमासिक पत्रिका) एवं साढ़ा साहित्य (वार्षिक पत्रिका) में संकलन के साथ-साथ लोकगीतों का विवेचनात्मक एवं विश्लेषणात्मक, अध्ययन भी समक्ष आया है । इसी संदर्भ में ''खारे मिट्ठे अत्थरू'', ''Shadow and Sunlight'', ''नमियां डोगरी बारां'', ''दरेस गाथाएं'', ''मढ़ बलाक दे शहीद'', ''प्रवीण डोगरी लोकगीत'', नमीं चेतना (दरेस गाथा विशेष अंक) डुग्गर दे लोक नायक (प्रकाशनाधीन) आदि लोकगीतों एवं लोक गाथाओं के संकलन भी उल्लेखनीय हैं ।

डुग्गर के प्रारम्भिक लोकगीतों के विषय में निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वे पूजापाठ और धार्मिक भावना से ओतप्रोत रहे हैं । आदि मानव ने जब इस संसार में आंख खोली तो सर्वप्रथम प्रकृति को ही अपने अंग-संग पाया और उस की गोद में भरण-पोषण पाकर अपना रूप-स्वरूप निहारा । प्रत्येक गतिविधि एवं क्रिया-कलाप में प्रकृति का ही आश्रय लेते हुए उसे अपना सहचर और समानधर्मा जाना । फलस्वरूप उसकी स्तुति एवं गुणगान भी किया, जिसका उल्लेख हमें अधिक गीतों में मिलता है । वैदिक साहित्य में भी सूर्य-चन्द्र, अग्नि, वरुण मरूत् आदि की स्तुति के उल्लेख मिलते हैं । ऋग्वेद में

---

1. (a) ''अग्निमाष्टि देवसे गाथाभिः । शीरशोचिषम'' ऋग्वेदः 8·71·8
   (b) An outline of Indian Folklore; P. 14

अग्नि, वरूण, मारूत आदि प्राकृतिक शक्तियों की स्तुति में पूरे-पूरे सूक्त व्याप्त हैं। इन सूक्तों में अपनी रक्षा हेतु अग्नि आदि का आह्वान करते हुए उन्हें प्रसन्न करने के संकेत मिलते हैं। डुग्गर में प्रतिष्ठित इन शक्तियों में से अग्नि, जल, इन्द्र, वर्षा, सूर्य आदि विशेष महत्व की हैं। इनके अतिरिक्त पशु-पक्षी एवं वृक्ष वनस्पतियों के प्रति भी मनुष्य का देवत्वभाव भी उल्लेखनीय है। अग्नि पूजा के संदर्भ में "सुहाग" नामक निम्न लोकगीत में पवित्र अग्नि को साक्षी मानकर कन्यादान का परम कार्य सम्पन्न किया जा रहा है।

"काह्न्नां अग्ग बलै घ्यो साड़ियै
कुसै बावल दी कन्या बेहाइयै
कुसै धर्मी दी बेटी बेहाइयै
काह्न्नां अग्ग बलै घ्यो साड़ियै"

× × × ×

इसके अतिरिक्त "ज्वाला" को शक्ति के रूप में "देवी" मानकर भी उसकी स्तुति की जाती है। एक लोकगीत में सम्राट अकबर का नंगे पांव ज्वाला देवी के दर्शनों के लिए आने और सोने का छत्र चढ़ाने का उल्लेख मिलता है।

जैं मेरी देवा पर्वत बस्सनी,
तेरा पार न पाया।
नंगे-नंगे पैरें देवा अकबर आया
सुन्ने दा छत्तर चढ़ाया
भिड्डू जे, बक्करे माया जोड़ियां लगदे
जोती ने अरघ दुआया ॥

इतना ही नहीं भयंकर अवसरों एवं अंधकार पूर्ण रातों में भूत-प्रेत आदि अमानवीय शक्तियों से त्राण पाने के लिए भी अग्नि प्रदीप्त करके रक्षा की जाती है। बालक जन्म के अवसर पर भूतप्रेत आदि की छाया से बचने के लिए सूतिका ग्रह में अग्नि को प्रदीप्त रखने की प्राचीन परम्परा का अनुसरण अब भी किया जाता है।

इन गीतों में नदी एवं जल पूजा का भी विशेष गुणगान है। "पुरमण्डल", "देविका", "गौरी कुण्ड", "मानसर", "सरूईंसर", "झिड़ी" (बावे दा तलाऽ) आदि तीर्थ स्थान डुग्गर की गंगा-यमुनाओं के रूप में प्रतिष्ठित हैं।

चल देवा परमण्डल चलचै
कुत्थै लागे डेरा

माता भौन चढ़ी छन्द गाएओ
द्दूरा-दूरा दा इट्टां मंगाएओ ।।[1]

× × × ×

हाड़ म्हीने सुद्ध आई ऐ,
पुन्नेआ दा ध्याड़ा ।
अज्ज न्होगे गौरी कुण्ड,
कल न्होगे नाड़ा ।
मार छालीं देवका ते,
पाप टलेआ सारा ।।[2]

× × × ×

मानसरै दी सुक्खन लोको,
कदें नि जन्दी खाली
दुद्धें न्होंदे पुत्तरें फलदे
औंदे केई सोआली जी ।

× × × ×

साढ़े सरूईंसर मानसर पूजदे
तरूत कल्हन लैंन मना जी ।[3]

उपरोक्त इन गीतों में क्रमश: पुरमण्डल, शुद्ध महादेव, गौरी कुण्ड, मानसर, सरूईंसर आदि पवित्र-जल-स्थानों के प्रति आस्था व्यक्त की गई है ।

डुग्गर के भक्ति गीतों अथवा धार्मिक गीतों में प्रकृति-पूजा के साथ-साथ देवी-देवताओं की स्तुति-आराधना भी मुक्त कंठ से की गई है । भजनों एवं विशनपतों में शिव, राम, कृष्ण, गणेश आदि देवताओं के प्रति निष्ठा व्यक्त हुई है जबकि भेंटों में शक्ति के विभिन्न रूपों का गुणगान है ।

डुग्गर के संस्कार गीतों में शिशु जन्म से पूर्व सम्पन्न होने वाले संस्कारों का उल्लेख भी मिलता है । "रीता अथवा ठु'आं नामक संस्कार पर वधू के

1. डोगरी लोकगीत भाग 1, पृ० — 13
2. डोगरी लोकगीत भाग 1, पृ० — 132
3. डोगरी लोक गीत भाग — 2, पृ० — 4

मायके की ओर से "सुण्ढ" (पंजीरी) आदि भेजी जाती है। निम्न लोकगीत में इस बात का वर्णन बड़ा स्पष्ट है।

अम्बड़िया मिगी सुण्ढ भेजी, धीए बण्ड शरीकां खायां,
अम्बड़िया मिगी सीस दित्ती, धीए कौड़ी बेल सा'ई फलेआं।[1]

इन संस्कार गीतों में "बिहाई" घोड़ी और सुहाग प्रमुख हैं। ये सभी प्रसन्नता के सूचक हैं। बिहाई का सम्बन्ध तो कुल में पुत्र-रत्न की प्राप्ति से है, क्योंकि डुग्गर समाज में "बालक जन्म" विशेष आह्लाद एवं प्रसन्नता का विषय माना जाता है अत: उस दिन से विशेष आयोजनों का तांता सा बंध जाता है। बिहाई बालना, पंजाब नहाना, गुड़ का संकल्प करना, सूतरा (नामकरण) आदि विभिन्न रीतियें सम्पन्न होती हैं; जिनका गायन "बिहाइयों" तथा बधावों में बड़े आह्लाद पूर्ण ढंग से हुआ मिलता है।

गोरीं दे आंगन फुल्ल जे खिड़ेआ,
खिड़ेआ असल गलाब
गोदा हरियां होइयां।[2]

× × × ×

के किज लखिया बावल बारै, केह् किज दानी माई।
बज्जियै अज्ज वधाई ॥
मुट्ठी भरी-भरी बावल बारै भरी चंगेर माई।
बज्जियै अज्ज बधाई ॥[3]

× × × ×

जिस ध्याड़े मेरा हरिहर जम्मेआ।
सोइयो ध्याड़ा भागें भरेआ, राम ॥[4]

× × × ×

"घोड़ी" लड़के के विवाह पर गाए जाने वाले मांगलिक एवं प्रसन्नता के सूचक गीत हैं, जिनमें विवाह के अवसर पर सम्पन्न होने वाली लगभग सभी रस्मों का वर्णन मिलता है।

---

1. डोगरी लोक गीत भाग—4 पृ०—26
2. डोगरी लोक गीत भाग—1 पृ०—10
3. डोगरी लोक गीत भाग—1 पृ०—11
4. डोगरी लोक गीत भाग—4 पृ०—11

श्री राम जी पण्डत आई रेहा
पूजा होई रेई ऐ गान्ना आई रेहा ।
गान्ना ब'न्नने दे बेलै तुस हाजर रवो[1]

× × × ×

हत्थ बन्ने दे मैंह्‌दी लाई ऐ, रूमालै ने लाई ऐ ब्हार
वे बधाई होवे ।[2]

× × × ×

चौकी दे पावे चार, इस साढ़े बीरै दी,
आ ओ बीरा ला बुटना,
बुटना लान दोस्त-यार, इस साढ़े बीरे गी ।[3]

× × × ×

सेहरा लान्दे लाड़े गी गरमी आई

× × × ×

तू बन्नेयां तेरी घोड़ी जे बनी ऐ
घोड़ी गी लगदे हीरे

× × × ×

लाड़ी लम्मी ऐ लम्मी ऐ लम्मी ऐ
शुकर कीता माऊ जम्मी ऐ—इत्यादि

इन लोक गीतों में कङ्गन बान्धने से लेकर वधु-प्रवेश तक का रोचक एवं सजीव वर्णन सिमटा हुआ है।

"सुहाग" लड़की के विवाह पर गाए जाने वाले मंगलगीत हैं, जिनमें डुग्गर की संकोची स्वभाव वाली कन्याओं की मनोदशा के साथ-साथ "वर" को "श्री राम" और कन्या को "सीता" की संज्ञा देकर उनके आदर्श एवं मर्यादित वैवाहिक जीवन की कामना की जाती है ।

उच्चे मैंह्‌लें तुसी बसे,
जिन्दे घर कन्या कुआरी रामा ।

---

1. डोगरी लोक गीत भाग—12 पृ०—51
2. डोगरी लोक गीत भाग—12 पृ०—54
3. डोगरी लोक गीत भाग—12 पृ०—53

कौन व्याहे तेरी कन्या रामा।
कौन तोड़े तेरा धनुष रामा।
रामचन्द्र व्याहे मेरी कन्या रामा।
सोई तोड़े मेरा धनुष रामा।[1]

विवाह संस्कार से ही सम्बन्धित कुछ और लोकगीत भी हैं, जिन्हें जागरना के गीत, फेरी, सिठनियां तथा छन्द नामों से जाना जाता है। इनमें सिठनियां और छन्द तो हंसी-मज़ाक के लिए हास्यरस प्रदान गीत हैं, जबकि जागरना और फेरी नाच गीत हैं।

संस्कार गीतों की चर्चा चल रही है तो इसे अधूरे में छोड़ देना युक्ति युक्त नहीं होगा, क्योंकि मानव जीवन का अन्तिम संस्कार तो "अन्त्येष्टि" है जिसे "खीरी संस्कार" नाम से भी पुकारा जाता है। डोगरी लोकगीतों में "लुहानियां" अथवा "अलेंह्नियां" नामक शोकगीत मृत्यु के अवसर पर रोदन-विलाप के साथ गाए जाते हैं।

डुग्गर की लोक गीत परम्परा पर्व-गीतों का अपना विशेष स्थान है। डुग्गर में मनाए जाने वाले लगभग सभी पर्व एवं त्योहार लोक गीतों की वाणी से सरसता ग्रहण कर इन उत्सवों का विशेष प्राण और आह्लाद प्रदान करते हैं। बैसाखी के अवसर पर भांगड़ा की सद्दें एवं बोलियें जोश-खरोश तथा उमंग-उत्साह भरने वाली होती हैं।

सुन्दर फुल्ल गलाबै दा
पेई सुन्दर फुल्ल गलाबै दा
पेई दस्सन पाना राज्जै दा
निक्कियें मींडियें सीस गदांदी,
उप्पर फुल्ल गलाबै दा
आहा फुल्ल गलाबै दा ॥[2]

लोह्ड़ी के "तरचौली" "हिरन", तीलमतीली, एरनी, कपनछूरी आदि गीत महीना भर पहले से ही लोह्ड़ी के आने का सन्देश सुनाने लगते हैं। इसी प्रकार होली, दीवाली, नवरात्रों, धमदेंह (आषाढ़ मास की प्रथमा) उत्तरायण, जन्माष्टमी, शिवरात्रि आदि सभी पर्व उत्सव लोकगीतों की इस परम्परा से सम्पन्न एवं प्राणवान हैं।

---

1. डोगरी लोक गीत भाग—1 पृ०—27
2. डोगरी लोकगीत भाग—12 पृ०—11

बारामाह, रित्तड़ियां, ढोलरू, ग्रीष्म, शीत एवं बरसात आदि ऋतु सम्बन्धी लोकगीत प्रकृति-वर्णन अथवा प्रकृति चित्रण के लोकगीत ही नहीं, अपितु प्रेम रस के गीत हैं; संयोग के चाहे कम हैं, किन्तु वियोग के अधिक हैं। ग्रीष्म ऋतु की जलाती-तपाती धूप और गर्मी जहां एक ओर अपनी क्रूरता व्यक्त करती है वहा वियोगियों के इस संताप को और भी दुगुना बना देती है। ग्रीष्म का संताप तो डुग्गर की गोरी (प्रियतमा) झेल लेती है, किन्तु वसन्त और वर्षा ऋतुएं उससे अपने सज्जन परदेसी के बिना नहीं काटी जातीं। विवश होकर एक ढोलरू[1] में कर देती है।

मनै देआ मैह्‌रमा, घरैं फेरा पायां
रुत्तां आइयां बांदियां। मन कल्पांदियां।
ए घरैं फेरा पायां।[2]

डोगरी लोक गीतों में मिलन गीतों को अपेक्षा विरह गीतों की भरमार काफ़ी अधिक है। बात स्वाभाविक भी है क्योंकि आर्थिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ प्रदेश होने के कारण गभरू जवानों को आजीविका कमाने हेतु घरों से बाहर परदेस में जाना पड़ता था। इन परिस्थितियों में डुग्गर नारी को पारिवारिक एवं सामाजिक दृष्टियों से कई प्रकार की यातनाओं को सहन करना पड़ता था। यातना भी यातना नहीं लगती जब उसका प्रेमी, प्रियतम, सज्जन, अथवा पति पास हो, लेकिन उसकी अनुपस्थिति में एक तो उसके वियोग का गम फिर ऊपर से कई प्रकार के शोषण एवं अत्याचार क्या उसकी पीड़ा को, विरह को वर्धित करेंगे? इसीलिए वह कभी कौए और कभी तोते के हाथ सन्देशा भेजती हुई अपनी मनोव्यथा व्यक्त करती हैं।

उड्ड-उड्ड कसुम्बेआ तोतेआ,
उत्थैं जाएआं, जित्थै मेरा ढोल गेआ।

कोठे टप्पी गेइयां दो जनियां, दाने लेइयै भट्ट बल जन्नियां
अग्गें बल गेइयां आशकें बालियां, मैं बैठी औसियां पान्नियां

× × × × ×

नदी टप्पी गेइयां दो जनियां, घड़ा लेइयै पत्तनै बल जन्नियां
तारी पेई गेइयां आशकें बालियां, मैं बैठी कण्ढे पर रोन्नियां

1. ढोलरू लोकगीत प्रायः बसन्त ऋतु के लोकगीत हैं और "रित्तड़ियां" बारहमास के।
2. डोगरी लोक गीत भाग—1 पृ०—200

गलै लाई लेइयां आशकें
में अत्थरूं हार परोन्नियां ॥[1]

"झंझोटी" नामक लोकगीत अधिकतर प्रणय लोक गीत हैं। जिनमें मिलन-सुख एवं वियोग दुःख के हृदयग्राही भाव हिलोरें लेते हैं।

"अर्थ" जीवन-यात्रा का सबसे महत्वपूर्ण साधन है। डोगरी लोक जीवन में भी अर्थ की महत्ता अपेक्षणीय है। जन्म संस्कार से लेकर मृत्यु तक खूब खर्च करने की प्रथा रही है। यह स्मरण दिलाने योग्य बात है कि डुग्गर के जन-मानस को अर्थोपार्जन के लिये कड़ी मेहनत करनी पड़ती थी। डोगरी लोक-गीतों में सिपाही, थानेदार, कुमेदान, पटवारी, रेंजर, गाड, चौकीदार आदि का काफी उल्लेख मिलता है, जो पुलिस तथा जंगलात से सम्बन्धित हैं। कुछ एक लोक गीतों में वकील, डाक्टर मास्टर तथा वैद्य-हकीम के उल्लेख भी मिलते हैं। लेकिन जहां तक अशिक्षित वर्ग के लोगों का प्रश्न है वे आमतौर पर पैतृक, जातिगत अथवा मेहनत-मजदूरी से काम करके जीवन बसर करते रहे है। इनमें खेतीबाड़ी, पशुपालन साहूकारी (सूदखोरी), दुकानदारी, रंगसाजी, बनजारा, बढ़ई, दरजी, धोबी, सुनार, झीवर, नाई, लोहार, आदि कई एक धन्धों की चर्चा हमें डोगरी लोकगीतों में मिलती है। पुरुषों के धन्धों के साथ-साथ महिलाओं के धन्धों के उल्लेख भी बड़े स्पष्ट हैं, जिनमें चक्की, चरखा, घरेलू दस्तकारियों के अतिरिक्त पानी भरने, बर्तन साफ करने, धाय आदि का धन्धा करना भी शामिल है। मेहनत-मुशक्कत के गीतों में "स्वाड़ी"[2] नामक लोकगीत खेतीबाड़ी के गुडाई, बोआई आदि के समय तथा "गरलोड्डी" अथवा "निहास्हेड़ी"[3] गीत मकान बनाते समय शहतीर अथवा और दूसरा बोझ उठाते समय गाए जाते हैं।

लोकगीतों की इस परम्परा में डुग्गर में प्रचलित खेलों का चित्रण भी रोचक है। थाल, पुगना, कीकली, तील्ली, राह्ड़े, नवरात्र, टापू, पंजीकड़ा आदि गीन लड़कियों की खेलों से सम्बन्धित हैं, जबकि कौड्डी-कौड्डी, खि'न्नू-गु'त्ती, गोलगत्ता, अत्तर-पत्तर डंड-पला आदि गीत लड़कों की खेलों का सजीव वर्णन प्रस्तुत करते हैं।

---

1. डोगरी लोक गीत भाग—1, पृ०—51
2. उड्डियां नि कूज्जां, जाई पेइयां बिच धाने
   सस्स मारै बोलियां, ननान मारै तान्ने
   डोगरी लोक गीत भाग—1, पृ०—144
1. ए ख्वाजेआ पीरा, होई सा
   तेरे जोरे, होई सा .....
   डोगरी लोक गीत भाग—1, पृ०—151

"भाखां" नामक लोकगीत डुग्गर के अपने विशेष लोकगीत हैं। वस्तुतः भाखां एक प्रकार का गाने का ढंग है, जिसमें कुछ लोग इकट्ठे मिलकर अपने एक हाथ को कान पर रख कर दूसरे को हवा में लहराते हुए एक साथ गाते हैं। ये छोटे, मध्यम तथा उच्च स्वर में गाई जाती हैं और संगीत की दृष्टि से इन्हें "भाखां" कहा गया है। विषय की कोई सीमाबन्दी नहीं। सुरों और स्वरों का उतार-चढ़ाव तथा उनका एक साथ शुरू होकर बाद में बिखर जाने पर भी समरूप और समरस प्रतीत होना ही इनकी प्रमुख विशेषता है।

यों तो डोगरी लोकगीतों के विषय में जितना कहा जाए कम है लेकिन सीमित रूप से देखते हुए अन्ततः यही कहा जा सकता है कि डुग्गर की लोकगीत परम्परा इतनी गहन है कि मानव जीवन का कोई पक्ष अथवा पहलू ऐसा नहीं है जिसे इन लोक गीतों में वाणी नहीं मिली हो। इन गीतों की मधुर लय में वह पैदा हुआ। इन्हीं के मनोहर पलने में अठखेलियां करता हुआ वह बड़ा हुआ। इन्हीं की सस्वरता तथा रसात्मकता को संग लेकर वह खेला-कूदा जवान हुआ। इन्हीं का संग-साथ और सहारा लेकर उसने मुश्किल से मुश्किल मेहनत-मुशक्कत के कार्य किए। इन्हीं का आश्रय ग्रहण कर उसने सर्दी-गर्मी तथा तंगी-तंगदस्ती का समय व्यतीत किया और यदि यह कहा जाए कि उसकी मृत्यु भी लोकगीतों की वाणी से वंचित नहीं रही तो इसमें कोई अत्युक्ति नहीं है।



जम्मू की लोक-संगीत माधुरी

□ सुरेन्द्रपाल गंढलगाल

प्रत्येक परम्परा के स्रोतों का उसकी अपनी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की किन्हीं अविकसित अवस्थाओं में ही विद्यमान होना स्वाभाविक है। किसी भाषा की प्रारम्भिक अवस्थाओं को यदि ध्यान में लाया जाए तो यह अनुमान लगाना सहज होगा कि सर्वप्रथम ध्वनियां ही उदित हुईं, यह ध्वनियां शब्दों अथवा वाक्यों की द्योतक न भी रही हों तो भी स्पष्ट है कि प्रारम्भिक अवस्थाओं में मात्र ध्वनियां ही विभिन्न भावनाओं, संवेदनाओं की वाहक रही होंगी।

बहुत पहले मूलत: ध्वनियां ही अभिव्यक्ति के रूप में क्रियान्वित हुई होंगी तत्पश्चात् ध्वनियों के स्वर, आदि का ज्ञान अथवा आरोह, अवरोह का विज्ञान सम्भव हुआ होगा। मानव-शिशु भी प्राय: अपने भाषा विकास में लगभग इसी भाषा के वैकासिक क्रम का अनुसरण करता है।

इन तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में ध्वनि की स्थापना भाषा के आधार रूप में स्वयंमेव ही हो जाती है। किसी अनायास दुख अथवा सुख की अभिव्यक्ति भी मात्र ध्वनि से ही सुलभ होती है। यों भी सभी अभिव्यक्तियों के लिए शब्दों का जुगाड़ सम्भव नहीं। कोई अभिव्यक्ति जहां कहीं भी शब्दों का अभाव अनुभव करती है, ध्वनियों का सहारा लेती है। ध्वनि शाश्वत है मानव इसका प्रयोग अपने सुख-दुख को अभिव्यक्त करने के लिए करता है। एक का प्रतिपादन 'सुर' से होता है तो दूसरे का 'लय' से। 'सुर' तथा 'लय' से संगीत की सृष्टि होती है।

संगीत किसी स्थान विशेष का उत्पाद्य होने के कारण अपनी विशिष्ट परम्परा को गति देता है जो वहां का लोक संगीत कहलाती है। इसमें स्थान विशेष के जन मानस की झांकियां सुलभ होती हैं।

लोक संगीत किन्हीं विशेष स्थितियों का उत्पाद्य होता है अत: जिस माध्यम से यह अस्तित्व में आता है, लोकगीत कहलाता है। यह कहना उचित

होगा कि 'लोक संगीत' एवं 'लोकगीत' का आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध है। किन्हीं भावों, रसों की अभिव्यक्ति में दोनों एक दूसरे के लगभग पूरक सिद्ध होते हैं। लोक संगीत एवं लोकगीत का विकास साथ-साथ होता चलता है।

डुग्गर की लोक संगीत परम्परा का अपना एक स्थान है। इसमें अपनी मिट्टी की गंध ने प्रत्येक को कहीं गहरे छू रखा है। डुग्गर की लोक-संगीत परम्परा को चिन्हांकित करने के लिए यहां के लोकगीतों की विविध विधाओं-उपविधाओं एवं इनकी पद्धतियों का अध्ययन अनिवार्य है। इसलिए डुग्गर की भौगोलिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक इत्यादि विविध स्थितियों एवं इनसे जुड़े प्रत्येक तत्व के विकास क्रम का ज्ञान अपेक्षित है।

डुग्गर का जन-मानस अपने जीवन में किसी न किसी रूप में समय-समय पर इन तत्वों का निर्वाह करता आ रहा है। ग्रामीण क्षेत्रों में अभी भी नाई, लोहार, बढ़ई, कुम्हार, कहार इत्यादि अपना-अपना कार्य 'सेप' आधार पर ही करते हैं यानि वे अपने कार्यों का पारिश्रमिक उसी समय रुपये पैसे के रूप में नहीं लेते बल्कि प्रत्येक फसल पर (प्रायः छः-छः माह उपरान्त) अनाज, दलहन, तिलहन इत्यादि के रूप में प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार बहुत से कार्य यथा गोड़ाई, कटाई, इत्यादि को भी ग्रामीण प्रायः साथ सहयोग के कार्य ही समझते हैं तथा इन कार्यों में एक दूसरे का प्रायः हाथ बंटाते हैं।

यह सभी कार्य कलाप डुग्गर की लोक संगीत परम्परा के सुनियोजन में भागीदार भी बनते है। आधारभूत तत्वों एवं इनके विकास-क्रमों के अपने-अपने वैशिष्ट्य के फलस्वरूप डुग्गर के लोक गीतों की प्रत्येक विधा अथवा उप-विधा की अपनी-अपनी एक विशेष संगीत शैली है। प्रत्येक संगीत शैली किसी भाव, घटना, स्थान, समय, रस, ऋतु इत्यादि की एक विलक्षण अनुभूति को प्रतिपादित करती है।

प्राकृतिक दृश्यों के वर्णनात्मक गीत, संस्कार गीत, धार्मिक गीत, प्रेम गीत, श्रम गीत, ऋतु गीत, जड़ी जादू एवं भूत प्रेत सम्बन्धी गीत, नृत्य गीत, पर्व त्योहारों के गीत इत्यादि अपनी-अपनी संगीत शैलियों द्वारा लोकाचार, धर्म विश्वास, बर्ताव-व्यवहार, स्वभाव, दुःख-सुख, आशा-निराशा आदि अनेक मानसिक क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप प्राप्त होते हैं।

लोक गीतों में, भले ही अधिकतर स्थानों पर, भावलोक, एक जैसा ही होगा किन्तु प्रत्येक स्थान का संगीत अपना ही एक वैशिष्ट्य रखता है। प्रायः संगीत द्वारा ही यह जाना जा सकता है कि यह गीत किस स्थान का हो सकता है, भले ही गीत के शब्द समझ में न आएं। इस प्रकार प्रत्येक संगीत शैली, समय एवं स्थान की परिधियों का स्पर्श करते हुए किन्हीं सूक्ष्म अनुभूतियों की अभिव्यक्ति प्रस्तुत करती है

जीना प्हाड़ें दा जीना
ओ मित्तरा,
जीना प्हाड़े दा जीना
ओ.........

× × ×

गोरी दा चित्त लग्गा चम्बे दिया धारा
चम्बे दियां धारा, पौन फुहारां
ओढनू सिज्जी जंदा सारा
गोरी दा.........

× × ×

सोत-सात देआं कुड़िए
न्हारी टुकड़ा खायां ओ......
न्हारी टुकड़ा खाइयैं मोइए
पानियैं गी तूं जायां ओ......

× × ×

चलो पानियैं गी,
ओ चलो पानियैं गी;
चलो पानियैं गी
ओ......

× × ×

कंढी बो कंढी देस बौह्‌ते बटड़े
भज्जी बो जंदे गोरी दे पैर पतले......
कढी बो कंढी देस अम्ब मिठड़े
घस्सी बो जंदे गोरी दे दंद चिटड़े......

× × ×

प्रत्येक परिवेश का एक सजीव दृश्य आंखों में आ बसता है। डुग्गर में जीवन-पथ का प्रत्येक पग प्रायः किसी न किसी संस्कार द्वारा सम्पन्न होता देखा जाता है। प्रत्येक संस्कार के सौंदर्य एवं माधुर्य की द्योतक लोक संगीत शैली का अपना ही वैशिष्ट्य होता है।

जिस ध्याड़े मेरा हरिहर जम्मेआ,
सोई ध्याड़ा भागें भरेआ, राम ।
न्हाता-धोता हरेआ पट्ट पलेटेआ,
कुच्छड़ मिलेआ अम्बड़ रानी राम । (बिहाई)

× × × ×

सेई जायां नन्द लालेआ, बांह् सरैह्ना दिन्नी आं
सेई जायां गर-पालुआ, बांह् सरैह्ना दिन्नी आं (लोरी)

× × × ×

टिक्का जुद्देआ दा आया,
लग्गी सानू ढेर ।
तुस लाओ मेरे वीरा
लग्गी सान्नू ढेर । (बधावा)

× × ×

जे तूं बैट्ठा सांती मराह्जा
माए ते मंगल गांदी मराह्जा ।
सेहरा ब'न्नेआं, पंज लड़ियां,
हीरे, मोती ते लालें जड़ियां । (घोड़ी)

× × ×

बोल तूं मेरिए बागें दिए कोयले,
बाग छोड़ी बन कैत चलिएं ।
बावल मेरे धरम जो कीता,
धरमै दी बद्दी अऊं चली आं । (सुहाग)

× × ×

ए (फलाने दा) ढिड कुन्नै बनाया
ए सरकारी ढोल आया (सिठनी)

× × ×

इसी प्रकार शोकावसरों से सम्बन्धित लोक-संगीत एक अलग प्रकार का रोना, छाती-पीटना, विलाप इत्यादि सभी शोक द्योतक हैं एवं पृथक्-पृथक्

पहचानने योग्य हैं। युवाओं एवं वृद्धों की मृत्यु के दुखद अवसरों पर प्रायः 'मारू' अथवा 'ढड्ड' बजाने के भी चलन हैं। यह भी अपनी-अपनी संगीत-शैलियों पर आधारित अपना-अपना अलग-अलग परिचय रखते हैं।

भक्ति गीतों यथा 'भेटां', 'बिशनपते' इत्यादि विधाओं की अपनी संगीत शैलियां हैं।

माता दे दरबार जोतां जागदियां,
शेरां वाली दे दरबार, जोतां जागदियां
सूहा-सूहा चोला माता अंग बराजे,
चन्नन तिलक लगाया जोतां जागदियां (भेंट)

× × × ×

मन सै लग्गा ओ ममता दे झगड़े,
सिर माया दियां गड्डियां।
अऊं तेरे चरणें दी बो भुब्बली
किस गुनाहें अऊं तज्जी आं। (बिशनपता)

× × × ×

आकर्षण प्रकृति का पर्याय है और प्रेम आकर्षण का। इस तथ्य का आधार कुछ भी हो, सृष्टि में इसका अपना महत्व है। इसका नियोजन संवेदनशील संगीत में बड़ा विलक्षण है।

चम्बे दिए डालिए,
मोइए दुआस नि हो
उनें अज्ज आई पुज्जना।
चम्बे दिए डालिए......

× × ×

में केह् करां ननानें
जोबन होड़ेआ नेई रौंह्दा ।
कदें राविया दे कंढे
कदें दरिआ दे फेरें
बगला बन-बन बौंह्दा
में केह् करां......

× × ×

डुग्गर का जन मानस स्वभाव से परिश्रमी है। परिश्रम के कठिन क्षणों में भी अपने मनोरंजन के लिए विविध सुरों की रचना, उसकी प्रवृत्ति रही है।

देआं माए मिगी ओडनू,
कन्नै गोडनू,
में मखआ गुड्डन जाना
लोभी मरूए दा......

× × × ×

जली ओ जा, कंढिया दा बस्सना,
भर दपैह्‌री पानियै गी नस्सना......

× × × ×

प्रत्येक ऋतु का एक अपना सौंदर्य है। यही सौंदर्य डुग्गर के लोक संगीत में भी मुखरित है।

जली जायो सोहे दिए नींदरे
जिस दित्ते सज्जन रसाई,
जे में होंदी जागदी लोको
आऊं लैंदी गलै कन्नै लाई,
जली जायो......

× × ×

फुल्लें पर भौरें पाया फेरा,
कलिएं पर भौरें पाया घेरा,
सुन्हाकी आई रित्तड़ी
फुल्लें पर......

× × ×

इसी प्रकार नृत्य गीतों का आधार संगीत शैलियों से डुग्गर के नृत्य संगीत की उत्पत्ति होती है—व्यक्ति स्वतः ही अपने अंग संचालन के लिए बिवश हो जाता है तथा अंग-अंग में एक थिरकन अनुभव करने लगता है।

कक्की जम्मी सोह्‌दरें, पीर जम्मे मुलतान
एम्बलपुर गुग्गा लेटेआ, छिड़ी जित्तो दा थाह्‌न
ओ मुड़ेओ......। (सद्द)

× × ×

उच्चे मंदरें आलिये,
जाई बैठी तूं काली धार, माता
तेरैं टुरी-टुरी औंदे जातरू,
बोलदे जै-जै कार माता,
ओ मुड़ेओ......   (सद्द)

× × ×

मीरपुर दरिया लग्गा
ढाह् लग्गी पेई भारी,
जी ओ रामप्यारी,
आखो रामप्यारी......   (लुहानी)

× × ×

ढेक्कू पुड़ नच्चतम
दूई जने हो-हो......   (ढेक्कू—नाच गीत)

× × ×

कीकली कलीर दी, पग्ग मेरे वीर दी
दुपट्टा मेरे भाई दा, फेटे मूंह जुआई दा......
(कीकली—नृत्य गीत)

× × ×

मुड़े दी माऽ नच्चै, नच्ची तमाशा दस्सै......   (जागरना गीत)

× × ×

डुग्गर के जन जीवन से जुड़े हुये पर्व त्योहारों के अवसर पर जहां जन-मानस हिलोरें लेता है वहां लोक संगीत भी।

उड्ड मड़ कूंजड़िए मड़िए, सौन आया ई आहो,
कियां उड्डां नीं अड़िए, देस पराया ई आहो।
उड्ड मड़......

× × ×

कूंड्डू-कुंड्डू कांटे
भाई कुंड्डू-कुंड्डू कांटे—हेरनी

पाई खदे बैरें दी
ते पत्तै गी न्यूं जानदे—हेरनी

× × ×

अङां, ए अंङां,
तेरे कपड़े रंङ्गां
कन्हैये दी चोल्ली
बीर खेड्डै भैन-गोल्ली
खेड वीरा खडालेआ
लट बांवरेआ......

× × ×

डुग्गर में प्रचलित लोक क्रीड़ाओं का भी एक अलग संगीत है। इस प्रकार की किसी संगीत शैली को सुनते ही खेल विशेष का स्मरण अनायास ही हो आता है, दृष्टि में वही समय, वही दृश्य मूर्त्त होने लगते हैं।

खूह बिच तुलसी,
भैना मेरियां गोरियां
भ्रा मेरा मुन्शी......

× × ×

ठीकरिए-मठीकरिए तूं केह्ड़ा ताना ताया,
जिस कुसै दा गोड्डा भज्जा, उस्सै ने छपाया।

× × ×

'भाख' डुग्गर के लोक संगीत की एक विशेष विधा है। बिना किसी वाद्य-यंत्र के 'भाख' के गायक वातावरण में एक अनुपम सृष्टि करते चलते हैं। एक बंधी हुई कंठ ध्वनि में विभिन्न स्वरों का उतार-चढ़ाव इस प्रकार किया जाता है कि श्रोतागण मंत्र-मुग्ध रह जाते हैं।

गोरी दे दंद चम्बे दियां कलियां,
मोइए ओठ मिशरी दिया डलियां,
लड़ी हत्थ रौंगें दियां फलियां,
गोरी अक्खीं अम्बें दियां बो दलियां,

× × ×

'अध्यात्म' एवं 'कर्म' का मानवीय जीवन में विशेष महत्व है। डुग्गर की लोक गाथाओं में दोनों पक्षों का यथोचित समावेश मिलता है।

'कारकां' में अध्यात्म की प्रधानता है तो 'बारां' में कर्म की।

लोक परम्परा में 'कारकां' ऐसे धर्म स्थलों (थड़े थानों) से सम्बन्धित लोक गाथाएं हैं जिनकी स्थापना एवं मान्यता कुछेक सम्बन्धित वंशों के लोगों ने की अथवा करवाई थी। इनके रचनाकार एवं गायक 'योगी' (जोगी) ही हुआ करते थे।

'कारकां' के सम्बंध में लोक परम्परा से पता चलता है कि यह ऐसी गाथाएं हैं जिनका किसी धर्म-स्थल से जुड़ा हुआ होना आवश्यक नहीं है तथा न ही यह आवश्यक है कि इनकी मान्यता कुछ विशेष वंश के लोगों द्वारा ही आरम्भ की गई हो। 'बारां' का रचनाकार एवं गायक 'योगी', 'गारड़ी' अथवा 'दरेह्‌स' कोई भी हो सकता है।

'कारकां' तथा 'बारां' की शैली भले ही एक जैसी हो, इनके संगीत की अलग-अलग विशेषता है। 'कारक' में आत्म निवेदन विद्यमान है तो 'बार' में आत्म सम्मान।

अंदर सोतै बाह्‌र सोतै बापू औंदा कनक लदाई।
अग्गें नेईं चिर लांदा बापू अज्ज किआं चिरलाई॥
पे बछोड़े मेरेआ बावला, रोइयै कुस गी सनाई।
गली-गली दियां मिलङन झिड़कां, कुसी सनानां रोई॥

(कारक, बावा जित्तो)

× × × ×

भाद्रों म्हीने नमैं दी तित्थू जनम राजा ने पाई॥
अरबी बाजे बज्जन लगे मैह्‌लें बज्जै बधाई।
मैह्‌लें बज्जै बधाई राजे तोफें दी छलक कराई॥
गास लोक ते मात लोक कम्बै पृथ्वी कम्बी सारी।
हुकम कीता राजा वासकै मुड़ी प्यूली पंत सदाई॥

(बार, वीर गुग्गा)

× × × ×

'लैहरां' 'बैंसरू', 'गद्‌दी' 'मोर', मुहारां, इत्यादि नामों से प्रचलित संगीत जादू जड़ी एवं भूत-मसान सम्बंधी संगीत कहलाता है। जादू-जड़ी एवं भूत-

मसान की संगीत में यह विशेषता है कि यह श्रोताओं पर भी एक जादू सा डाल देता है।

इसी प्रकार डुग्गर की अन्य लोक-संगीत-शैलियों (यथा छिजां, श्रोड़क, झंझोटी, चन्न इत्यादि) में भी अपना परिचय देने का सामर्थ्य विद्यमान है।

यह सभी संगीत-शैलियां एक मुख्य धारा की सर्जक हैं जिसे डुग्गर की लोक संगीत परम्परा से अभिहित किया जाता है।

डुग्गर के लोक संगीत में प्रयुक्त होने वाले वाद्य यंत्रों में ढोल, घड़ा, थाली, किंग, सारंगी, चकारा, बंसरी, चिमटा, घंटियां, घड़ेयाल, शंख, खड़तालां, कैह्ल, ढोलक, डमरू तुर्ही, नगारा, नरसिंहा इत्यादि उल्लेखनीय हैं।

डुग्गर का अधिकांश संगीत राग पहाड़ी दुर्गा, भोपाली इत्यादि में निबद्ध माना जाता है। राग झंझोटी की धुनें भी इनमें कहीं, कहीं प्राप्य हैं एवं नृत्य संगीत मुख्यत; दादरा, कहरवा, रूपक दीप चंदी, चंचल इत्यादि तालों में बंधा हुआ माना जाता है। डुग्गर के लोक संगीत के कुछ स्थल स्वछन्द भी हैं तथा कुछ परस्पर प्रभावित भी।

कहना न होगा कि अपने लोक संगीत में डुग्गर का जन मानस निरंतर तरंगायित होता चला आ रहा है। □

डुग्गर के लोक-वाद्य

□ ब्रह्म स्वरूप सच्चर

संगीत देश की संस्कृति का एक अभिन्न अंग तथा मानव की आत्मा का आहार है। शास्त्रीय संगीत गायन, वादन तथा नृत्य का त्रिवेणी संगम है। वादन विभाग में वे सभी वाद्य आते हैं जो संगीत की शोभा को चार चांद लगाते हैं। यह वाद्य भले ही स्वयं निर्जीव होते हैं परन्तु इन में से निकलने वाले स्वर इन्हें सहज सप्राण सिद्ध कर देते हैं।

भारतीय वाद्यों को पांच भागों में बांटा गया है—

तत्, वितत्, घन, सुषिर, अवनद्ध

तत् वाद्य वह वाद्य है जिन पर तारें लगी होती हैं और इन तारों को छेड़ कर स्वर पैदा किया जाता है। जैसे—सितार, सरोद आदि।

वितत् वाद्य उन वाद्यों को कहा जाता है जिन पर तारें लगी होती हैं परन्तु इन तारों पर गज फेर कर स्वर पैदा किया जाता है जैसे—सारंगी, वायलन आदि।

पाश्चात्य संगीत में तत् तथा वितत् वाद्यों को Stringed Instruments कहा जाता है।

घन वाद्य वह वाद्य है जिन से छड़ियों की सहायता से स्वर पैदा किया जाता है जैसे—जलतरंग, शशितरंग आदि। पाश्चात्य संगीत में इस प्रकार के वाद्य नहीं मिलते।

सुषिर वाद्य उन वाद्यों में आते हैं जिनसे फूंक द्वारा स्वर पैदा किया जाता है जैसे बांसुरी, शहनाई आदि। पाश्चात्य संगीत में इन वाद्यों को Wind Instruments कहा जाता है।

इनके अतिरिक्त एक प्रकार के वे वाद्य भी हैं जिन्हें अवनद्ध वाद्य कहा जाता है और यह संगीत में ताल के लिए प्रयोग में लाए जाते है जैसे ढोल,

तबला आदि। इन वाद्यों को पाश्चात्य संगीत में Percussion Instruments कहा जाता है।

भारतवर्ष में शास्त्रीय संगीत के साथ-साथ अलग-अलग क्षेत्रों के अपने-अपने लोक संगीत हैं। जिनकी उत्पत्ति समय के अनुसार हुई और समयानुसार उनमें विकास होता गया इस प्रकार वे जनजीवन से जुड़ते गये। इन लोक संगीतों में डोगरी लोक संगीत जो कि डुग्गर क्षेत्र के लोगों का संगीत है, काफी लोकप्रिय है। डोगरी लोक संगीत भी डोगरी लोक गीतों, वाद्यों तथा नृत्य का समन्वय और इस लोक संगीत की शोभा बढ़ाने के लिए डुग्गर के वाद्य अपनी विशिष्ट भूमिका निभा रहे हैं।

इन वाद्यों में निम्नलिखित वाद्यों के नाम लिए जा सकते हैं।

1. किंग
2. सारंगा
3. चंग
4. बौंसरी
5. तुर्री
6. नगोजे
7. नरसिंहा
8. कैह्ल
9. ढोल
10. ढोलकी-रोड़ा
11. नगाड़ा
12. डफला
13. घड़याल कैंसियां
14. झांझ-मंजीरा
15. थाली-घड़ा

1. **किंग**—डुग्गर के देव स्तुति गीतों 'कारकां' के साथ बजाया जाने वाला यह वाद्य एक तार वाला वाद्य है जो कि प्राचीन काल से डुग्गर के लोक संगीत के साथ जुड़ा हुआ है। 'कारकां' जैसे गीतों के साथ यह वाद्य तार को छेड़ कर बजाया जाता है जिससे बड़ा ही मधुर स्वर पैदा होता है।

कहा जाता है कि यह वाद्य भगवान राम के राजतिलक के समय नाभा नामक ऋषि द्वारा बजाया गया था जिसकी प्रेरणा भगवान शिव ने दी। ऐसा भी कहा जाता है कि इसे भगवान विश्वकर्मा ने स्वयं बनाया था।

इस वाद्य की एक तार की मधुर ध्वनि गीतों को एक नया रूप प्रदान करती है। लोक गीत की मधुर आवाज तथा इस वाद्य की तार की झंकार सारे वातावरण को भक्ति रस में बदल देती है।

2. **सारंगा**—इस वाद्य को डुग्गर के कुछ क्षेत्र में नीरी भी कहा जाता है। इसे 'बारां' नाम के लोकगीतों के साथ बजाया जाता है जिन्हें रस के गीत भी कहा जाता है। इस वाद्य पर ग्यारह तार लगे होते हैं। चार तारोंको मुख्य तार कहा जाता है और बाकी सात तारों को तरब कहा जाता है। इन मुख्य तारों पर गज़ फेर कर स्वर पैदा किया जाता है।

इस वाद्य का आकार लगभग भारतीय संगीत की सारंगी जैसा है। अन्तर सिर्फ तारों तथा स्वरों का है। सारंगी के स्वरों का फैलाव काफी ज्यादा है परन्तु सारंगा का फैलाव सिर्फ चार स्वरों तक ही है।

ऐतिहासिक दृष्टि से इसे रावण के समय के साथ जोड़ा जाता है और ऐसी भी मान्यता है कि उस समय भी इसे वीर रस के गीतों के साथ बजाया जाता था। जो गज इस वाद्य के तारों पर फेरा जाता है उस पर घोड़ों के बाल बंधे होते हैं और एक तरफ घुंघरू बंधे हुए होते हैं। यह घुंघरू इस वाद्य की ध्वनि को और आकर्षक बना देते हैं। तारों तथा घुंघरूओं की आवाज जब गीतों के साथ मिलती है उस समय ऐसा प्रतीत होता है जैसे कलाकार सचमुच ही वीर रूप में सजीव हो उठा हो।

चंग—यह एक बहुत ही छोटा सा वाद्य है जिसे जेब में डाल कर कहीं भी ले जाया जा सकता है। यह एक लोहे का फ्रेम होता है जिसका आकार बिलकुल चाबी जैसा है। इसी फ्रेम के साथ एक लोहे की पतली सी तार जैसी पत्ती लगी होती है जिसे दांतों में दबा कर सिरे से छेड़ा जाता है। इस प्रकार इस वाद्य में से मधुर ध्वनि पैदा होती है। यह अधिकतर डुग्गर के दूर दराज पहाड़ी इलाके के लोक गीतों के साथ बजाया जाता है।

इन तारों वाले वाद्यों में किंग तथा चंग को तत् वाद्य तथा सारंगा को वितत् वाद्य कहा जा सकता है। इन सभी तार वाले वाद्यों को Stringed Instrumats of Dugger भी कहा जा सकता है।

इन के अतिरिक्त फूंक से बजने वाले वाद्य जो कि डुग्गर के क्षेत्र में प्रयोग किये जाते हैं उनमें बांसुरी, तुर्री, नगोजे, नरसिहा तथा कैह्ल के नाम आते हैं। इन सभी वाद्यों को डुग्गर के सुविर वाद्य या Wind Instruments of Duggar कहा जा सकता है जिन का विवरण इस प्रकार है।

बौंसरी—यह वाद्य डुग्गर क्षेत्र का सबसे महत्वपूर्ण फूंक वाला वाद्य है जिसे अधिकतर पहाड़ी क्षेत्र में जहां प्रकृति का राज्य है प्रयोग में लाया जाता है। इसका आकार भारतीय संगीत की बांसुरी जैसा होता है, परन्तु

अन्तर सिर्फ इतना है कि इस क्षेत्र में प्रयोग में लाई जाने वाली बाँसुरी आकार में छोटी होती है। 'बौंस' शब्द 'बांसुरी' का ही बिगड़ा हुआ शब्द है। डुग्गर के क्षेत्र में इसे बंजली भी कहा जाता है। इसे बजाने का तरीका तथा स्वर वैसे ही है जैसे भारतीय संगीत की बाँसुरी के है। पहाड़ी क्षेत्र में यह इसलिए प्रचलित है क्योंकि इसका आकार छोटा है इसे जहां चाहो वहां आसानी से ले जाया जा सकता है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह वाद्य काफी प्राचीन है जिसे भगवान कृष्ण के साथ जोड़ा जाता है और यह भी कहा जाता है कि इसका आविष्कार भी भगवान कृष्ण ने स्वयं ही किया था। इस वाद्य की मधुर तान जब प्रकृति के वातावरण में गूंजती है तो ऐसा प्रतीत होता है कि मानव ही नहीं परन्तु प्रकृति भी रस विभोर हो उठी हो। पहाड़ी क्षेत्र के कुड्ड नाच के साथ इस वाद्य को वजाया जाता है जिससे नाच को एक नया ही रंग मिल जाता है।

तुर्री—इसे डुग्गर के कई भागों में तुतड़ी भी कहा जाता है। इसका आकार भारतीय संगीत के वाद्य शहनाई जैसा है और वजाने का तरीका भी शहनाई जैसा है। तुर्री के स्वर भी शहनाई जैसे ही हैं। अन्तर सिर्फ इतना है कि शहनाई के स्वरों का विस्तार हो सकता है परन्तु तुर्री के स्वरों का विस्तार कुछ हद तक ही हो सकता है। इस वाद्य को पहाड़ी क्षेत्र के ही कुछ लोक नृत्यों के साथ बजाया जाता है विशेषकर खुशी के समय के किये जाने वाले नाचों के साथ।

नगोजे—यह वाद्य डुग्गर के मैदानी क्षेत्र के नाचों में काफी लोकप्रिय है। इस वाद्य का प्रचार पंजाब के क्षेत्र में काफी ज्यादा है और वहां के नाच भांगड़ा में इसका विशेष महत्व है। इसी कारण से डुग्गर का क्षेत्र जो पंजाब से मिलता है इस वाद्य को अपने नाचों के लिए अपनाए हुए है।

नरसिंहा—घोषणा के लिये प्रयोग में लाए जाने वाला यह वाद्य डुग्गर के लोक संगीत के साथ प्राचीन काल से जुड़ा हुआ है। तांबे का बना हुआ यह वाद्य इस क्षेत्र के मंदिरों में पूजा के समय बजाया जाता रहा और इस समय भी यह घोषणा के लिए प्रयोग में लाया जाता है ताकि लोगों को पता चल सके कि मंदिरों में पूजा हो रही है। धर्मयुद्ध में भी यह वाद्य घोषणा के लिए प्रयोग में लाया जाता था। युद्ध के प्रारम्भ तथा समाप्ति की घोषणा इसी वाद्य द्वारा की जाती थी। इसे समय इसे रणसिंहा भी कहा जाता था। 'रण' का अर्थ है युद्ध और 'सिंहा' का अर्थ है शेर। अर्थात् इसे युद्ध के शेर का नाम दिया गया था।

डोगरी लोक नाच कुड्ड में इस वाद्य का बड़ा ही महत्व है। इसकी ध्वनि इस नाच को एक नया ही रूप देती है और नाच को आकर्षित बना देती है। धार्मिक दृष्टि से इस वाद्य के विषय में यह भी मान्यता है कि इसकी ध्वनि सारे वातावरण को पवित्र कर देती है और इसकी ध्वनि से 'ॐ' शब्द का उच्चारण होता है।

कैह्‌ल—नरसिंहा की तरह यह वाद्य भी तांबे का बना हुआ होता है। अन्तर सिर्फ इतना है कि कैह्‌ल का आकार सीधा होता है और नरसिंहा का का आकार दोनों ओर से गोलाई में एक दूसरे सिरे की विपरीत दिशा में होता है। ध्वनि दोनों वाद्यों की एक जैसी है और कैह्‌ल भी घोषणा के लिए प्रयोग में लाई जाती है विशेषकर विवाह के समय। इसके अतिरिक्त कैह्‌ल नरसिंगा के साथ कुड्ड नाच में बजाई जाती है।

तारों वाले तथा फूंक वाले वाद्यों के अतिरिक्त एक और प्रकार के वाद्य होते हैं जो सगीत में ताल के लिये प्रयोग में लाए जाते हैं। डोगरी लोक-संगीत में इस प्रकार के वाद्य काफी लोकप्रिय हैं। इन वाद्यों को Percussion Instruments of Duggar भी कहा जा सकता है। इन में ढोल, ढोलकी-रोड़ा, नगाड़ा, डफली, घड़योल, कैंसीयाँ तथा थालघड़ा के नाम लिए जा सकते हैं।

ढोल—यह वाद्य डुग्गर का एक अत्यन्त लोकप्रिय वाद्य है जिसे इस क्षेत्र के हर नाच के साथ बजाया जाता है। पहाड़ी क्षेत्र में इसे ढौंस भी कहा जाता है। वैसे तो भारत के लगभग सभी लोक नाचों में ढोल बजाया जाता है परन्तु डुग्गर क्षेत्र के ढोल का आकार सभी ढोलों से बड़ा है।

ढोल डोगरी लोक संगीत के साथ प्राचीन काल से जुड़ा हुआ है। इस वाद्य की एक सब से बड़ी विशेषता है कि इसमें समयानुसार ताल बजाए जाते हैं। खुशी के अवसर पर एक प्रकार का ताल बजाया जाता है और दुखी वातावरण में दूसरे प्रकार का। अर्थात् इस वाद्य के ताल इस प्रकार के हैं जो सारे वातावरण को अपनी लपेट में ले लेते हैं। डुग्गर के क्षेत्र में कुश्तियों (छिंज) के अवसर पर भी ढोल बजाया जाता है जिसकी गड़गड़ाहट सारे वातावरण को उत्साहपूर्ण बना देती है। यह वाद्य डुग्गर के नाचों कुड्ड, जातर, फुम्मनीयां आदि में काफी लोकप्रिय है।

ढोलकी-रोड़ा—ढोल के ही प्रकार का एक वाद्य ढोलकी भी डुग्गर क्षेत्र में काफी लोकप्रिय है। ढोल का आकार बड़ा है और ढोलकी का आकार छोटा है। ढोलकी का प्रयोग डुग्गर के लोकगीतों विशेषकर विवाह के लोकगीतों में काफी लोकप्रिय है। डुग्गर के प्रसिद्ध नाच जागरना में भी ढोलकी का प्रयोग होता है। इसके साथ एक छोटा-सा पत्थर जिसे रोड़ा कहते हैं ढोलकी पर उसके के तालानुसार बजाया जाता है।

नगाड़ा—इस वाद्य का महत्व इस क्षेत्र में मंदिरों में बहुत अधिक है जहां इसे पूजा के समय बजाया जाता है। ऐतिहासिक दृष्टि से इसका महत्व धर्मयुद्ध के साथ जुड़ा हुआ है। जहां पर यह घोषणा के लिए प्रयोग में लाया जाता है। डोगरी लोक नाच सस्सी-पुन्नु में इस वाद्य का काफी महत्व है।

डफला—प्राचीन युग में डफला मनुष्य के अंतिम संस्कार के समय बजाया जाता था। आजकल यह होली के त्योहार के साथ जुड़ा हुआ है और बच्चों की टोलियां रंग फेंकते समय डफले के ताल पर ही खुशी से नाचते हैं।

घड़याल—इसे घंटी भी कहा जाता है। डुग्गर-क्षेत्र में इसे घोषणा के समय भी प्रयोग में लाया जाता रहा है। परन्तु अपनी आकर्षक ध्वनि के कारण यह कुड्ड नाच का वाद्य बना लिया गया है।

कैंसीयां—यह छोटे मंजीरों के आकार की होती हैं जिन्हें घंटी की तरह कुड्ड नाच में बजाया जाता है। डुग्गर के क्षेत्र में इसे मन्दिरों में भी पूजा के समय प्रयोग में लाया जाता है।

थाली-घड़ा—यह वाद्य पहाड़ी क्षेत्र में काफी लोकप्रिय है। एक घड़ा जिसके मुंह पर कांसी की थाली उलटा कर रखी जाती है। थाली और घड़े की ध्वनि काफी कर्णप्रिय होती है और यह वाद्य जातर नाम के लोकनाच के साथ बजाया जाता है।

डंडारस—यह दो डंडे होते हैं जिन्हें एक दूसरे के साथ बजाकर ध्वनि पैदा की जाती है। इस का नाम डंडारस इसलिए पड़ा क्योंकि दो डण्डे बजाकर ध्वनि निकाली जाती है। यह डुग्गर के लोकप्रिय नाच फुम्मनीयां में ढोल की ताल पर बजाया जाता है।

अन्ततः यह कहना उचित होगा कि उपरोक्त लोक वाद्य डोगरी लोक-संगीत के उन्नयन में सशक्त भूमिका निभाते हुए उसकी रस माधुरी में उत्तरोत्तर वृद्धि करते चले आ रहे हैं। □

डुग्गर के लोकनृत्य

□ विश्वनाथ खजूरिया

जीवन में परिश्रम अनिवार्य है, और परिश्रम के फल स्वरूप आनन्द प्राप्त होता है। आनन्द की मस्ती में मानव का मन, उसका अंग-अंग नाच उठता है। लोक नृत्य का यही मनोविज्ञान है, यही उसकी परम्परा है।

आकाश पर काली घटाएँ देख मोर, आनन्द विभोर हो, अपने सुन्दर पंख फैलाकर ठुमक-ठुमक कर नाच उठता है। किसान अपनी पकी फसल देखकर मस्ती से झूम उठता है। सच्चा भक्त अपने इष्टदेव के सन्मुख मस्ती से नाच उठता है। डुग्गर के लोक नाच, भांगड़ा, ढेकू (कुड्ड) पर ही आधारित है।

डोगरा देश पंजाब की उत्तरी सीमा से पीर पंचाल तक फैला है।

इस प्रदेश को तीन खण्डों में बांटा जा सकता है :—

(1) दक्षिणी मैदानी इलाका, (2) कंढी, नीची पहाड़ियों का रक्कड़ इलाका, जो पहाड़ी और मैदानी इलाके के बीच स्थित है, और (3) ऊँची पहाड़ियों या धारों का इलाका।

तीनों खण्डों की संस्कृति और रहन-सहन में अनेकता के साथ एकता भी पाई जाती है। तीनों के लोक नाच इसके साक्षी हैं।

जम्मू के तीनों खण्डों के लोक नृत्य :—

भाँगड़ा—यह जम्मू के दक्षिणी मैदानी इलाके (ऐंदड़) का लोक-नाच है। पंजाब का पड़ोसी होने के कारण डुग्गर के इस खंड की संस्कृति, लोक वार्त्ता लोक संगीत, लोक-नृत्य आदि पर पंजाबियत का काफी प्रभाव है।

भांगड़ा फसली लोक नाच है। मार्च महीने के अन्त तक हाड़ी (खरीफ) की फसल पक कर तैयार हो जाती है। गन्दुम के सुनहरी खेत हवा में लहराते देख, किसान भी झूम-झूम उठता है। उसका अंग-अंग नाच उठता है। बैसाखी

(13 अप्रैल के आस पास) के फसली त्योहार के दिन निश्चित स्थान पर पास-पड़ोस के गांव-गांव से भाँगड़े के नर्तकों की टोलियां नाचती-गाती आ पहुंचती हैं। नर्तक अपने 'पिड़' में, वादक कलाकारों (ढोल, चिमटा, अलग़ोज़े आदि के) को घेर कर खड़े हो जाते हैं।

ढोल की तेज़ 'तिग्गी' पर अपने पांव और कलाईयों पर बंधे घुंघरू झनझना कर 'होए' वे सह-घोष के साथ नाच शुरू करते हैं। ढोल के तेज़ डगे पर नाच तीव्र से तीव्र तर होता जाता है। नर्तक कभी एक टाँग के बल खड़े होकर दूसरी टाँग, पाँव और खुली बाहों को हवा में लहराते हैं। मानों उनके खेतों की फसल लहरा रही है। कभी अपनी कलाइयों पर बंधे रंग-बिरंगे रूमाल लहराते है, मानों रंग-बिरंगी तरंगें हवा में लहरा रही हैं। उनके कूल्हों की कलापूर्ण झटकोलियाँ देखते ही बनती हैं।

अन्य मुद्रा में वह झटके के साथ, ढोल की विशेष थाप पर अपने कदम धरती पर धमकाते और एक साथ ही अपनी बाहें और गर्दन को झटका देते हैं, तो उनके सिरों पर बंधे लाल पीले पटके, और पटकों के फुंदने लहराते देख, गुमान होता है कि लाल-पीले फूलों से लदी पलाश की शाखें झूल रही हैं।

एक दो अन्य मुद्राओं के उपरान्त, थोड़ा अंतराल होता है, और तभी कोई नर्तक घेरे के बीच आकर अपना एक हाथ अपने कान पर ले जाकर दूसरी बाँह आगे बढ़ाकर स-स्वर एक 'सद्द' लगाता है। ('सद्द', विशेष प्रकार का पंजाबी लोकगीत है, जिसकी शैली 'माहिया' या 'चन्न' से मिलती है। 'सदद' का भाव शृंगारी होता है या वह देश प्यार लिए होती है) 'सदद' के एक पद के पश्चात, घेरे में खड़े नर्तक "होए" के सह-घोष के साथ पाँव में बन्धे घुंघरुओं की झंकार करते चलते हैं और 'सदद' के दूसरे पद की समाप्ति पर, "बल्लेह-बल्लेह" के घोष के साथ ही पुन: नाचने लगते हैं।

इस प्रकार केई नर्तक बारी-बारी से घेरे में आकर सददें लगाते हैं।

नर्तकों की वेश-भूषा—पंजाबी जन-जीवन के अनुरूप ही भांगड़ा-नर्तकों की वेश-भूषा बड़ी भड़कीली होती है। सिर पर शोख रंग का भड़कीला पटका, जिसके सिरे के पल्लू नर्तक के कानों पर झूलते हैं। तन पर सफेद मलमल आदि का मुग़लई कुरता और शोख रंग का झिलमिलाती लुंगी। कुरते पर शोख रंग की किनारी-चमकीली बास्कट। दोनों कलाईयों पर रंगदार रूमाल और पांव और कलाइयों पर घुंघरू बंधे होते हैं।

डोगरा भांगड़ा—उपरोक्त भांगड़ा को कुछ लोग पंजाबी भांगड़ा भी कहते हैं। उसके समानान्तर डुग्गर के कंढी और ऐंदड़ आदि में उसी लोक नाच के अनुरूप एक और लोक नाच भी चलता है जो "डोगरा भांगड़ा" कहलाता है। डोगरा भांगड़े के नर्तकों की वेशभूषा बड़ी भड़कीली नहीं होती। डोगरा भांगड़े

के अधिकतर नर्तक अपनी साधारण पोशाक में ही नर्तक मण्डली में आ मिलते हैं, तो कई कच्छा-बनियान पहने ही नृत्य कला का कमाल दिखाते हैं। पंजाबी भांगड़े में कभी-कभार नए शगूफे खिलते दिखाई देते हैं। डोगरा भांगड़ा में ऐसा कुछ नहीं होता। डोगरा भांगड़े की बोलियां शुद्ध डोगरी भाषा में लगती हैं।

बैसाखी के तीन दिन पीछे, जम्मू-अखनूर रोड़ पर नागबनी के स्थान पर "धिङ बसाखी" का मेला लगता है। तहसील अखनूर और जम्मू से कई लोग और दूर-पार से डोगरा भांगड़ा की मंडलियां वहां पहुँचती हैं। डोगरा भांगड़ा की प्रतियोगिता होती है। उधमपुर, रियासी आदि के पहाड़ी अंचलों में चलने वाले गीतड़ू लोक नाचों की कुछेक मुद्राओं पर इस नाच की छाप दिखाई देती है।

लोक नाच भांगड़ा के ढोल के बोल हैं :—

1. धिनिक ना धिन्न, धिनक ना तिन···"

2. धिन धिन-नाके धिन ···।"

भारत के अन्य लोक नृत्यों में भांगड़े का मेला—मध्य प्रदेश के लोक नृत्य "स्टेला" की कई मुद्राएं 'भांगड़ा' से मेल खाती है। मध्य प्रदेश के झीलों और आसाम के आदिवासियों के "वेसाखो", "बेहो" और "होआई-रंगीली" का स्वभाव काफी मात्रा में भांगड़े से मेल खाता है। भांगड़े के समान ही उन लोक नाचों का आयोजन आषाढ़ी की फसल पकने पर ही होता है।

बैसाखी के अतिरिक्त अन्य त्योहारों, शादी पर और अन्य सांस्कृतिक प्रोग्राम भांगड़े बिना सब बे मजा रहता है।

फुम्मनी—कंढी क्षेत्र के लोक नाच—"फुम्मनी", चाल, जागरना, और लोहड़ी के नाच) दन्त कथा है कि प्रागैतिहासिक काल में भद्रवाह से जम्मू तक नाग जाति का राज था। यह लोक गीत अंश उसका अनुमोदन करता है।

"बासक राजा बैठा मंडिया—बैठा मंडिया आई,
बाई पुत्तर, चुरासी पोतरे—बैठे रचना लाई···।

तो नागों ने अपनी राज-सत्ता स्थिर करने के लिए 'अपने प्रतीक रूप में नागों (सांपों) की पूजा प्रचलित करवाई। जो कालान्तर में हमारी संस्कृति का अंग बन गई। फिर समय पलटने के साथ नाग जाति का तख्ता पलट गया, किन्तु कुछ घरानों में नाग देवता की आराधना के साथ ही एक लोक नाच भी चालू हो गया, जो बाद में "फुम्मनी" नाच के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

नागों की मानता, (विशेष रूप से कंडी के इलाके में) का एक कारण यह भी हो सकता है कि इस खण्ड में विषधर सांपों की बहुतायत होने कारण, उन से रक्षा पाने हेतु भी यहां नाग देवता, वासुकी (सुर्गल) के थान बहुत हैं। उन थान्नों में नागों की बाम्बी भी होती है।

डंगैदे (जिसे सांप ने काट खाया हो) को नाग देवता के थान पर पहुंचाया जाता है, जहां उसे 'बाबा' जी के प्रसाद रूप शक्कर (बाम्बी की उस मिट्टी और चरणामृत दिया जाता है। और नाग देवता का 'चेला' मंत्र भी फूंकता है। वहां मन्नत मानी जाती है कि डंगैदे के स्वस्थ होने पर "वासुकी" देवता के हजूर में फुम्मनी नाच की चौकी करवाई जाएगी और भण्डारा दिया जाएगा।

कई नि:सन्तान लोग भी नाग देवता के स्थान पर ऐसी ही मन्नत मानते हैं।

कृष्ण जन्म अष्टमी से अगले रोज (गुग्गा नवमी के दिन नाग देवता की गुग्याल (शोभा यात्रा) निकलती है, जो उन लोगों के हां विशेष करके जाती हैं, जिनकी मन्नतें, नाग देवता के प्रताप से पूरी हुई होती है। वहां फुम्मनी नाच की चौकी दी जाती है।

फुम्मनी नाच की चौकी—वाद्यवृन्द (जिनमें ढोल, रणसिहा, बांसुरी, आदि बजाने वाले कलाकार होते हैं) को घेरे में लेकर, नर्तक मण्डलाकार खड़े हो जाते हैं। रणसिहा की त्रिधा से नृत्य शुरू होता है। ढोल की थाप पर नर्तक अपने अध-खुले हाथ, कंधों तक ऊपर उठाते हैं और अपने ऊपर के धड़ को, हुमका-हुमका कर दाएं, बाएं घुमाते हैं।

ढोल के इशारे पर मुद्रा बदलती है। अब दोनों हाथ, एक आड़ी, दूसरा तिरछी पोजीशन में भी कभी दाएँ कभी बाएँ कंधे के पास आ जाते हैं, मानों, किसी शिशु को कंधे से लगाया हो। मुद्रा फिर बदलती है। अब दोनों हाथ उस स्थिति में आ जाते हैं, मानों शिशु को गोद में लिया हो। एक और पोजीशन में, सारे नर्तक एक साथ, अपनी-अपनी कमर झुकाकर, दोनों हाथों से चुटकियां बजाते और बाँहों को कभी दाईं ओर कभी बाईं ओर झुलाते और मुंह से सी··· सी···की प्यारी ध्वनि एक साथ निकालते हैं।

फिर नर्तकों का मुखिया शिशु को, मुस्कराते-मुस्कराते अपनी बांहों में उठाकर झुलाता है। हो सकता है कि यह शिशु वही हो, जिसके लिए वासुकी के आगे मन्नत मांगी हो। चौकी की अन्तिम मुद्रा और भी भावभीनी होती है। ढोल पर "धमाल" की थाप बजती है। इस मुद्रा में नर्तकों के टखनों, हाथों की कलाईयों और उंगलियों की कलापूर्ण लोच देखकर दर्शक मुग्ध हो जाते हैं।

नर्तक अपने हाथ फिर अपने कंधों तक ऊपर उठा कर, दोनों हाथों की उंगलियां, फूल की बंद कली के सदृश्य, एक-एक करके समेटते और हलके झटके के साथ, पांव पटक कर और दोनों कलाईयों को हलकी सी हरकत देकर उन बंद उंगलियों को पुन: एक-एक कर खोलते चलते है। मानों बंद कली खिलकर फूल बन गई हो। भाव यह होता है कि यह शिशु, जो आज कली के समान है, वासुकी देव के आशीर्वाद से फूल के समान खिले। उसका यश फूल की सुगन्ध के समान दूर-दूर तक फैले।

यहां कली को कोमल-सुन्दर रेशमी फुंदने से उपमा दी गई है। फुंदने को डोगरी भाषा में फुम्मनी कहते हैं। हो सकता है कि इस सांकेतिक नृत्य के इस कलापूर्ण नामकरण का यही कारण हो।

इस नाच की पुरानी शैली भी थी। उस में दो-दो नर्तकों की जोड़ी, रात के समय मिट्टी के एक बड़े से, जलते चिराग़ के गिर्द घूम-घूम कर नाचते थे।

बंटवारे से पहले के पंजाब के बड़े-बड़े जिमींदार, रईस शादी या पुत्र-जन्म पर जम्मू से फुम्मनी के नर्तकों को बुलाते थे। रात-रात भर वहां फुम्मनी का जशन चलता था। उन ही जशनों की देन, पंजाब के लोक नाच ''लुड्डा'', ''झूमर'', और ''टिप्पनी'' आदि हैं।

फुम्मनी नाच ''कैहरवा'' ताल आठ मात्रा में चलता है।

मध्य प्रदेश के लोक नाच ''कदम'' और केरल के ''पोर कल्ली'' और ''फुम्मनी'' का एक दूसरे पर प्रभाव दिखाई देता है।

चाल-चौकी—पश्चिमी कंडी का ''चाल'' फसली नाच है, जो जून महीने में पड़ता है। इधर के हिन्दू-मुसलमान क़िसान खरीफ की फसल का अनाज तब तक 'जूठा' नहीं करते जब तक अपने ''खेतर पाल'' या पीर के शुकराने का भण्डारा न दे लें। उस भण्डारे से पहले ''चाल'' की चौकी भी होती है। इस नाच की कुछ मुद्राएं भांगड़ा और अन्य फुम्मनी से प्रभावित हैं। और मुख्य मुद्रा है नर्तकों के पैरों की कलापूर्ण चाल, जिस से इस लोकनाच का यह नाम पड़ा है। हिंदू-मुसलमान, हरिजन, सब इस नाच में शामिल होते हैं। कहीं-कहीं इसके साथ महिलाएं बड़ा प्यारा लोकगीत गाती हैं :—

''ओ सच्चेआ मेरा ध्यान तेरे बल्ल···''

वाद्य यन्त्रों में रणसिंहा के स्थान यहां नफीरी पर होती है।

चौकी—यह भी पश्चिमी कंढी का ही नाच है। जो ज्येष्ठ और नवम्बर में पड़ता है। इसकी मुद्राएँ डोगरा भांगड़ा और 'चाल' से ही प्रभावित है।

लोहड़ी का नाच—लोहड़ी शरद ऋतु का अन्तिम त्योहार है। उस रोज जम्मू शहर में छज्जा नाच, हिरण नाच, भंढबू नाच और सस्सी पुन्नू आदि कई नाच देखने को मिलते हैं।

छज्जा नाच—यह अपनी क़िस्म का अनोखा नाच है, जो जम्मू शहर और कुछ और शहरी में ही देखने को मिलता था, अब कई कारणों से वहां भी मांदा पड़ गया है।

नाच मण्डली के साथ एक छज्जा हुआ करता था, जो नाचते मोर की आकृति का हुआ करता था। नाच मण्डली लोहड़ी के दिन भर छज्जा लिए उन घरों में जाती, जहां पिछले एक वर्ष में बच्चे का जन्म या क़िसी की शादी हुई-

होती थी। नर्तक मण्डलाकार खड़े होकर नाचना शुरू करते। नाच में भांगड़ा, फुम्मनी की और अन्य विविध मुद्राएं और डंडारस भी होतो थी। कभी मण्डली का मुखिया छज्जे को पीठ पर उठाए, अपने पैर मोर के सदृश्य ही मटक-मटक कर धरता, तो पक्षी राज मयूर का नाच ही सामने आ जाता। अन्त में डंडारस की खेल होती।

महंगाई और अन्य कई कारणों से पिछले दो-एक वर्षों से यह नाच देखने में नहीं आया।

रीछ नाच—मह यथार्थ का प्राचीन लोक नृत्य है, जिसमें किसी प्रकार की तैयारी नहीं करनी पड़ती। किसी भारी भरकम हंसोड़ व्यक्ति के शरीर पर काली रंगी घास लपेट कर और उसके हाथ-पैर-मुंह पर कालिख पोत कर उसे "रीछ" सा बना कर उसके गले और पांव में घुंघरू और गले में डोरी बांधी जाती है। "कलंदर" बना युवक डोरी हिला कर उसे नचाता है। लड़के "रीछ" को घेर कर खड़े होकर, और बांहें फैला कर गाते फिरते हैं।

"चीना चीन मचीना हो। चीना दब्ब दब्ब छड़ीना हो......

कलंदर के बार-बार डोरी हिलाने पर, रीछ गुस्से में आकर कलंदर की ओर झपटता है और मुंह से भौं-भौं की भारी आवाज निकालता है। इससे दर्शकों का मनोरंजन होता है।

हिरण नाच—रीछ नाच की शैली का ही हिरण लोक नाच भी लोहड़ी के त्योहार पर प्रस्तुत किया जाता है। किसी आदमी की पीठ पर हिरण की छाल, उसके मुंह पर हिरण का मुखौटा और सींग लगा कर उसे "हिरण" बनाया जाता है। साथ में आठ-दस अन्य युवक होते हैं। खुशी वाले घर जाकर यह नाच दिखाया जाता है। रीछ के गले और पांव में घुंघरू बंधे होते हैं। साथ काले युवक आमने-सामने दो टोलियों में खड़े हो जाते हैं। उनके हाथों में डंडारस जैसे दो-दो डंडे होते हैं। विशेष ताल पर वह डंडे ट'कोरते है। उसी ताल पर हिरण के पांव और गले में बंधे घुंघरू बजते हैं। नर्तकों के पांव के घुंघरू भी बजते हैं। हिरण उसी ताल पर कुलांचे भरता है। नर्तकों की एक टोली बोलती है।

"हिरण आया पलाही दा।"

दूसरी टोली—दे कटोरा छाही दा —"

इस तरह कई पद चलते हैं। परिस्थिति अनुसार बोल बदलते भी चलते हैं।

"रीछ" और "हिरण" की शैली के लोक नाचों की आज बड़ी अहमियत है। इनकी खोज हो रही है।

सस्सी पुन्नू नाच—पंजाब के 'सस्सी पुन्नू' की प्रेम कथा पर आधारित यह रोमानी नाच तीन-चार साल पहले झांकी के रूप में लोहड़ी की संध्या को निकला करती थी 'सस्सी-पुन्नू' के भेस में दो युवक सांडनी पर सवार होते थे । उनके साथ नर्तकों की टोली होती थी । सांडनी सवार जोड़ी कव्वालियों के बंद गाती और नर्तक भांगड़ा से मिलती मुद्राओं में नाचते थे ।

जागरना, गिद्धा और किक्कली नाच—नाच-गाने का यह मिला-जुला जनाना प्रोग्राम है, जो दूल्हा के घर पर रात भर चलता है । उधर दूल्हा सज-धज कर ब्याहने निकलता है, कि उसकी दादी, माँ, चाची आदि और पास-पड़ोस की महिलाएं आँगन में जमा होती हैं । आज उनकी खुशी का आर-पार नहीं । कोई मर्द उस उत्सव में प्रवेश नहीं पा सकता ।

पहले दूल्हे की दादी, मां, चाची, आदि को बारी-बारी से 'कुर्सी' पर बिठा कर, कच्ची लस्सी से उनके पैर धोए जाते है और महिलाएं साथ-साथ गाती हैं :—

''कच्ची लस्सी'च पैर पाया मुंडे दिए माए,
पीढ़े बैठी राज चलाया, ए मुण्डे दिए माए''

(मां के स्थान पर दादी, चाची, मासी आदि जुड़ते चलते हैं)

फिर नाच शुरू होता है । नाच की हर मुद्रा में गति और शोखी भरी होती है । महिलाएं मंडलाकर खड़ी हो जाती हैं । ढोलक, घड़ा, चिमटा आदि बजाने वाली एक ओर बैठ जाती हैं । वाद्य संगीत के साथ ही नृत्य शुरू हो जाता है ।

दूल्हे की मां, दादी आदि दो महिलाएं, घेरे में से निकल कर, बीच में आकर गाती और चुटकियां बजाती हैं । और घेरे में खड़ी महिलाएं अपने पांव की गत पर मिल कर तालियाँ बजाती, गाती हैं ।

"अज मां मुण्डे दी नच्चै करदी, ताई बेल करांदी,
मासी बनियै पैंचनी बैठी, भाबी मान करैंदी ।"

अगली बोलियों में रिश्ते की अन्य महिलाओं का जिक्र आते ही वह घेरे के बीच आकर उसी तरह चुटकियां बजा-बजा कर नाचती हैं और घेरे में खड़ी महिलाएं बोलियां गाती चलती हैं । जागरने का एक दौर पूरा होता है ।

किक्कली—दूसरे दौर में घेरे में से दो युवतियां बीच में आकर और आमने-सामने खड़ी होकर अपने पाँव जोड़ कर एक दूसरी का दाएं से दायां और बाएं हाथ से बांया हाथ मजबूती से पकड़ कर और अपना संतुलन बनाए रखने हेतु, अपना सिर और ऊपर का धड़ पीछे झुका कर एक ही स्थान पर घूमना शुरू करती हैं । इस किकली नाच में तेजी आने लगती है । मंडल में

खड़ी महिलाएं ताली पीटती और दाएं-बाएं पांव धरती जाती हैं। हँसी ठिठोली का दौर चलता है।

किक्कली का यह जनाना लोक-नाच गुजरात, हरियाणा और कश्मीर की युवतियों में बड़ा लोकप्रिय है। कश्मीर में इसे "हक्कत" कहते हैं।

गिद्धा—गिद्धा को "जनाना भांगड़ा" भी कहा जाता है। यह मुख्यत: पंजाब की देन है और पंजाब के समान, जम्मू के मैदानी इलाके (ऐंदड़) और कंढी की महिलाओं में भी लोकप्रिय हो गया है और जागरने के तीसरे दौर में खूब मचलता है। अब गिद्धा वाली युवतियां मंडल में आ जाती हैं जो भांगड़े के ताल पर अपने पग दाएँ-बाएँ पटकती और तालियां पीटती और हंसी-हंसी में ही रंग जमा देती हैं।

गिद्धा के गीत "बोलियां" कहलाती हैं। उनकी संगत में ढोलक पर चम्मच की टनकोरें और चिमटे की जरबें तथा नाच की शोख और बांकी मुद्राएँ दर्शकों को मोहित कर लेती हैं। बाहरी मंडल के अंदर भीतरी दायरे में युवतियां भांगड़े की ही मुद्राओं को नए अन्दाज में पेश करती हैं। जी चाहता है कि यह रात और लम्बी हो जाए किंतु, जागरने का अन्तिम दौर आने को बे-चैन है।

इस दौर में घेरे के बीच दो-तीन युवतियां चुलबुली झलकियां पेश करती हैं, जिनमें सास-बहू, ननद-भावज और पति-पत्नी के चोंचले और तीखे व्यंग्य चलते हैं। आज बहुओं को पूरी छूट है कि अपने दिल का गुबार जी भर निकालें। एक झलकी का बोल है।

"कुकड़ी ओह लैनी जेह्ड़ी कुड़-कुड़ करदी ऐ,
सोहरे नेईं वस्सना, सस्स बुड़-बुड़ करदी ऐ।"

सूर्योदय से पहले जागरने का यह रंगीला प्रोग्राम समाप्त हो जाता है। मेहमान महिलाओं को दूल्हे की माँ मीठे बब्बरू और तले चने बाँटती हैं।

लोहानी—कंडी और मैदानी इलाके के देहात का जन जीवन कई बातों में नृत्य मय है। यहां जन्म और शादी पर नाच होता है तो वृद्ध की मृत्यु पर भी नाच होता है। नगरों में अब यह रीत बहुत घट गई है, किन्तु ग्रामों में वृद्ध की मृत्यु की सूचना मिलने पर समधिनें मातमी घर पहुँच कर उनके आंगन में 'लोहानी' का नाच करतीं और मरने वाले के परिवार पर रंग डालती हैं। और लोहानियां गाती हैं।

फिर दसवें रोज ढोल-ढमक्के के साथ समधिनें दल बल सहित मातमी घर जाती हैं। वहां आंगन की एक ओर ढोल वाले के साथ कतार में खड़ी हो जाती हैं। आंगन की दूसरी ओर मातमी औरतें पटड़े बांधे खड़ी हो जाती हैं और बीच एक चौकी पर नाईन खड़ी होकर लोहानियां पढ़ती है तो उसी ताल पर घर

की औरतें दुहत्थड़ पीटती हैं । और उसी ताल पर समाधिनें भांगड़ा नाचती हैं ।

जड़ियां, दोआले आदि के नाच—जम्मू प्रदेश के तीनों खंडों की ग्रामीण जनता में अब भी यह विश्वास चला आ रहा है कि जड़ियां (अर्थात् कुछ विषैले पदार्थ, बे-खबरी में खा लेने से व्यक्ति असाध्य रोगों में फंस जाता है । अनेक इलाज बेकार हो जाते हैं । अंत में वह जड़ियां निकालने वाले दोआले के 'थान' पर जाकर, छत से बंधे मोटे रस्से पर झूलता अर्थात् जड़ियां नाचता है । दोआला भी घड़ा थाली के ताल और जोगी के बोल पर अपने ऊपर के धड़ को नचाता और मंत्र फूंकता है । रोगी रस्सा पकड़े बे-सुध होने लगता है, तो रस्सा उसके हाथ से छुड़ाकर और उसकी आंखों पर बंधी पट्टी खोल कर उसे दूध पिलाते हैं । जलेबियां भी खिलाते हैं । कोई माने, न माने, छः-सात दिन उस प्रकार जड़ियां खेलने मात्र से उसका दु-साध्य रोग दूर हो जाता है । यह उस जड़ियां नाच की करामात है ।

इसी प्रकार थानों के दोआले अपने नंगे शरीर पर लोहे के झुंडे मार कर, जोगी के ढोल के ताल पर मंत्र फूंकते और थान के देवते के आगे कभी आग के कोयलों पर नाचते और रोगी को नचा कर उस पर से डायन, भूतों का कोप और कई रोग नाच के द्वारा ही दूर करते हैं ।

ढेकू, धुरई, सोहाड़ी—भद्रवाह नगर में और उसके पहाड़ी मार्गों पर कई देव स्थान और समाधियां हैं, जिनके पट दशहरे के पश्चात् बंद होकर शिवरात्रि पर पुनः खुलते हैं, तब श्रद्धालु जन जो सबके सब अपने प्यारे लोकनाच (ढेकू) के नर्तक भी होते हैं । देवस्थानों की यात्रा पर निकलते हैं । यात्रा से पहले मंडलियां अपने ढौंस (बड़ा सा ढोल) का, धूप, पुष्प, नाजवा आदि से पूजन करती हैं । देवदर्शन के पश्चात् खुले स्थान पर नाच शुरू होता है । ढेकू (कुड्ड) की मुख्य तौर दो पद्धतियां हैं । कहीं पर यह अग्नि कुण्ड के गिर्द चलता है. तो कहीं नर्तकों के घेरे के बाहिर, तीन डंडों से बने स्टैंडों पर रखी जलती मशालों की रोशनी में ।

रणसिंहा, ढौंस, बांसुरी आदि के वादकों को घेरे में लेकर नर्तक घेरा बांधकर खड़े हो जाते हैं । रणसिंहा की "त्रिया" के साथ ढेकू (कुड्ड) नाच शुरू होता है । नर्तक कलापूर्ण ढंग से लम्बे डग भरते हैं और हो···ओ···ओ के दीर्घ सह-घोष के साथ अपनी खुली बाहों को हवा में लहराते हैं, मानों गगन चुम्बी पेड़ हवा में लहरा रहे है कभी अपने हाथों को कूल्हों पर रखें, ऊपर के धड़ को, मर्दाना अदा से दाई-बाईं ओर झुकाते हैं और अपने पग उसी ताल पर टेकते हैं । अगली मुद्रा में नर्तकों का एक हाथ उनके कूल्हे पर और दूसरा हाथ उनकी आंखों की सीध में उठा होता है । अन्य मुद्रा से ऐसा जान पड़ता है कि

गद्दी गडरिया सांझ होने पर अपनी भेड़ बकरियों को अपने डेरे की ओर हांक रहा है। नर्तक अपना एक हाथ और आंखें दूर गड़ाए, मुंह से लम्बा होकारा लगा रहा है। उसके डग रुक-रुक कर आगे बढ़ते है। अब नर्तक हल्के से झटके के साथ अपनी दिशा बदल कर लगभग पहली मुद्राएं ही दोहराते हैं। ढौंस का ताल थोड़ा तीव्र हो जाता है, जिसे दोहरा ढेकू कहते हैं। फिर गति और तेज हो जाती है। नाच की बोली में इसे त्रेरा या डोगरा ढेकू कहते हैं।

नर्तकों की सुन्दर, स्वस्थ, संतुलित पद चाप देख हैरानगी होती है कि बिना सीखे यह कला-कौशल इन्हें कैसे आ गया? उत्तर है, "लोक कला का कमाल।"

एक लोक नृत्य विशारद का कथन है :—

"लोक नृत्य सिखाए से नहीं, आप ही आ जाते हैं।"

घुरेई नाच—भद्रवाह से कुछ दूर पूरब में 'भलेस' नाम का कस्बा मश्हूर है। वहां का जनाना लोक गीत-नृत्य भी नाम पर गया है। घुरेई, भद्रवाही लोक गीतों की एक विशेष शाखा है। जो अधिकतर गौरी माता की स्तुति में गाए जाते है। उन गीतों की संगत के कारण ही यह नृत्य घुरेई है।

नवम्बर मास में महिलाओं के त्योहार, करवा चौथ से एक दिन पहले भलेस की सधवा महिलाएं अच्छे वस्त्र, आभूषण पहन कर किसी वृद्ध-सधवा दम्पति के घर इकट्ठा होती हैं। वृद्ध दम्पत्ति के पैर धोकर उनकी वन्दना की जाती है। तदनन्तर महिलाएं मंडलाकार खड़ी होकर घुरेईयां गाती और नाचती हैं। उस नाच की अधिकतर मुद्राएं 'ढेकू' से मिलती हैं। किन्तु यह ढेकू से अधिक कोमल होती हैं। गीतों में अपने सोहाग की कामना की जाती है। अंत में दम्पति की ओर से सब महिलाओं को भोजन खिलाया जाता है।

सोहाड़ी—सोहाड़ी पहाड़ी इलाके का कृषि नृत्य-गीत है। किश्तवाड़-भद्रवाह के दूर के इलाके में कटी-फसल से धान गेहूं आदि झाड़ने का अनोखा तरीका है। फसल की सूखी पूलियां बीच में रखकर, उनकी एक ओर पांच-छः मर्द और उनके मुकाबले भी इतने ही मर्द या स्त्रियां या दोनों ओर मर्द या केवल स्त्रियां ही, हाकी जैसे लम्बे डंडे हाथों में लिए खड़ी होती हैं। उन डंडों के सिरे पर घुंघरू बंधे होते हैं। यह डंडे "छिणी" कहलाते हैं।

पहले एक टोली एक पांव आगे बढ़ाकर छिणियों को पूलियों पर पटकती है। फिर सामने वाली टोली। इस तरह यह क्रम चलता है। उनके कदम एक-साथ एक ताल पर उठते हैं। घुंघरूओं की झंकार ही एक मात्र वाद्य-संगीत है। छिणियां पर हुए उनके मुंह से "हो···हो··· की" मधुर ध्वनि निकलती है। पास खड़े लोग गाते हैं।

"सोहाड़ी सेइए रामा—सोहाड़ी सेइऐ,
शमेर बेला सीथी...भारे...द्रावे खारे...।

(कैसा भला था रामराज का समय, जब प्रति हल-रेखा से 'एक खार' अनाज निकलता था।)

सेहाड़ी से मिलता है, सौराष्ट्र का लोक नाच "टपाणी"।

युद्ध या "लीला" "म्हरक्खा" नाच—भलेस (भद्रवाह) के पूरब के कुछ देहात में नवम्बर-दिसम्बर की सर्दियों में जम्मू प्रान्त का एक मात्र मखौटा लोक नाच पड़ता है, जिसे वह लोग "युद्ध" या "म्हरक्खा" नाच बोलते हैं।

ढोल के रौद्र ताल पर नर्तकों की दो टोलियां भागती हुई आती और एक दूसरी के सन्मुख खड़ी हो जाती हैं। उन्होंने अपने मुंह पर लकड़ी से बने मुखौटे पहने होते हैं। और एक टोली ने काले और दूसरी ने श्वेत रंग के पट्टू के चोले पहने होते हैं ('राम दल' ने श्वेत और राक्षस दल ने काले) पैरों में मोटे-मोटे घुंघरू बंधे होते हैं। उनके हाथों में तीर-कमान तने होते हैं।

बजईयों (वादक कलाकारों) में दो ढोलिए एक कांसी का बड़ा सा कटोरा बजाने वाला और झांझ या बांसुरी बजाने वाला होता है। ताल पर एक टोली धनुष-बान ताने आगे बढ़ती और दूसरी पीछे हटती है। जय घोष होता है।

लोक गायकों की टोली राम-रावण युद्ध का साल, अपनी बोली में गाकर सुनाती है।

उड़ीसा का "चऊ" लोक नाच और लद्दाख के नाच भी मुखौटे पहन कर नाचे जाते हैं।

इनके अतिरिक्त गद्दियों के कुछ भिन्नता लिए अनेक लोक नाच हैं, जिनकी अपनी-अपनी परम्परा है यथा—'पर ढेकू' वाएका कुड्ड, आदि...।

हमारे गूजरों का निजी लोक नाच है, जो विवाह पर नाचा जाता है। नाच के साथ का लोक गीत है।

"अल्लाह, बिस्मिल्लाह वहैलो टुरिए..."

'द्रागड़' और सिद्ध नाच—पौनी (तहसील रियासी) की लोहे खान से निकले लोहे को पिघलाने से पहले लोग बकरे की बलि देते और "द्रगड़" नाम का लोक नाच पेश करते थे। लोहा निकालने का काम चाहे बंद है पर लोक नाच अमर है। नाच की मुद्राएं विविध हैं।

तहसील अखनूर के 'डगेह' गांव में बाबा जित्तो के समकालीन शहीद बाबा महीमल्ल की याद में (झिड़ी मेले के पश्चात्) मेला लगता है, जिसमें

डोगरा भांगड़ा की मंडलियां बावा जी की समाधि पर 'सिद्ध' नाच पेश करती हैं।

डुग्गर के लोक नाचों की इस तालिका में वह लोक नाच प्रवेश नहीं पा सके, जो डोगरा देश के पहाड़ी आंचलों में, जंगली फूलों के समान किसी की निगाहों से अभी ओझल हैं। उनके साथ ही ''गीतड़ू'' नाम के मीठे लोक-गीत भी काफी हद्द तक हमसे दूर हैं। गीतड़ू गीतों के साथ ही वह पहाड़ी, अंचलों के नृत्य भी गीतड़ू नाच के नाम से—याद किए जाते हैं जो शोध का विषय हैं। □

पहाड़ी चित्रकला

□ डा० अशोक जेरथ

फ़ारस के मध्ययुगीन शासक स्थापत्य कला के शौकीन थे। वे भारतीय, चीनी तथा यूरोपीय कलाप्रेमी शासकों के सम्पर्क में आकर चित्रकारी में रुचि लेने लगे। फ़ारस पर मंगोलों के आधिपत्य के साथ अनेक चीनी कलाकार भी अपना भाग्य आजमाने लगे। धीरे-धीरे इन कलाकारों ने स्थानीय विषयों को लेकर तस्वीरें बनाईं। इस प्रकार एक मिली-जुली शैली का विकास हुआ। यह चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी थी। इस समय भारत में जैन चित्रकला अपने उत्कर्ष पर थी। मध्य एशिया में समरकंद तथा बुखारा में तैमूर के समय चित्रकारों को राजकीय सम्मान दिया जाता रहा था। खुरासान में तो एक समय कवियों, लेखकों, चित्रकारों तथा इतिहासकारों का एक समुदाय तैयार हो चुका था। इनमें बिहज़द जैसे खाकाकशी के महान चित्रकार भी थे। बिहज़द के यथार्थवादी चित्र अपने सौन्दर्य और सम्पूर्णता के कारण मध्य एशिया के सम्राटों के लिए एक सदी तक आकर्षण का केन्द्र रहे। यद्यपि इन चित्रों के विषय भौतिक धरातल पर तराशे गये थे। परन्तु सूफ़ीवाद के विकास के साथ रूहानी विषय भी अपना रंग दिखाने लगे। सुलेखन, ख़ाकाकशी और अनेक दूसरे पक्षों पर इन चित्रकारों ने अपनी तूलिका चलाई।

बाबर कला का बेहद शौकीन था। उसके साथ फ़ारस से अनेक कलाकार भारत आये थे। वह प्रसिद्ध चित्रकार बिहज़द तथा उसके शिष्यों को अपने साथ भारत लाना चाहता था पर सफल नहीं हुआ। बाद में हुमायूं बिहज़द के दो शिष्यों, ख्वाजा अब्दुल समद और मीर सैयद अली को अपने साथ लेता आया था। हुमायूं और अकबर ने इन प्रसिद्ध चित्रकारों को न केवल सम्मान दिया अपितु उनसे स्वयं भी चित्रकारिता के बारे में जानकारी हासिल की। ये वही चित्रकार थे जिन्होंने प्रसिद्ध ग्रन्थ "दास्ताने अमीर हमजा" को जन्म दिया, जो बाद में मुग़ल शैली का आधार बना। अकबर के समय महाभारत का

फ़ारसी अनुवाद रज़्मनामा तथा जीवनियों-बाबरनामा और अकबरनामा को चित्रित किया गया पर इस समय चित्रित "दास्ताने अमीर हमजा" मुग़ल शैली का सबसे उत्तम नमूना था। इसके चौदह सौ चित्रों को पूरा करने के लिए चित्रकारों के समूह को पन्द्रह वर्ष लगे थे। पैगम्बर मुहम्मद के चाचा अमीर हमजा के कारनामों की यह दास्तां 22 इंच × 18½ इंच आकार के सूती कपड़े में चित्रित है।

अबुल फ़ज़ल के अनुसार अकबर सभी चित्रकारों को साप्ताहिक प्रगति के आधार पर पुरस्कृत करता था। ये कृतियां विश्व की प्रसिद्ध कृतियों के सामने रखी जा सकतीं थीं। ब्योरों की सूक्ष्मता, चित्रों का अंतिम स्पर्श और रेखाओं की प्रखरता इन चित्रों की विशेषता थी। यहां तक कि जड़ पदार्थों में भी जीवन दृष्टिगोचर होता था। सौ से ज़्यादा कलाकार कला में प्रवीणता के लिए प्रसिद्ध हो चुके थे और अनगिनत सम्पूर्णता के करीब थे। विशेषकर हिन्दू इस कला में बहुत आगे थे। यद्यपि चित्रकारिता का यह फलक फ़ारसी था। भारतीय परिवेश और पात्र इन कलाकृतियों का माध्यम बने। भारतीय चित्रकारों का बड़ा वर्ग अपनी मिट्टी की गंध पहचानने लगा था। यह पहचान धीरे-धीरे उनकी तालिका के माध्यम से चित्रों में न केवल पैठ पा गई अपितु पूर्णता की ओर अग्रसर होने लगी। अबुल फ़ज़ल ने आईन-ए-अकबरी में ऐसे अनेक कलाकारों का वर्णन किया है—केसुलाल, मुकुन्द, मुश्किन, तारा, सांवला, खेमकरन, मधु, जगन, भगवती, फारूख बेग आदि। परन्तु अकबर के दरबार के अति प्रसिद्ध चित्रकार थे बासवां, दासवंत, नन्हा एवं बिशनदास।

प्रारम्भिक मुग़ल चित्रों में नारी पात्रों का सर्वथा अभाव है। चित्रकारों को विषय चुनने की स्वतन्त्रता थी पर हरम में जाने की मनाही। बाद में जो रानियों तथा शहज़ादियों के चित्र बनाए गए थे वे बहुत हद तक कल्पित थे। औरंगजेब के समय भारत आए मनूसी ने लिखा है कि मैं रानियों और शहज़ादियों की तस्वीरें चित्रित नहीं करता। उन्हें देखना असम्भव है। अगर किसी ने ऐसी तस्वीरें बनाई भी हैं तो वे गलत हैं। मात्र दूसरी महिलाओं के मुखौटों में इन रानियों अथवा शहज़ादियों की कल्पना की है।

जहांगीर के समय चित्रकला का यह रूप अपने पूरे यौवन पर था। एक किस्सा इस सिलसिले में बड़ा प्रसिद्ध हुआ कि जहांगीर के दरबार में पाश्चात्य राजदूत सर थामस रो ने बड़े आत्म विश्वास के साथ एक तस्वीर सम्राट को भेंट की और कहा कि भारतीय कलाकार ऐसी कृति को नहीं बना सकते। पर सम्राट ने इस चुनौती को स्वीकार कर एक दिन उसे बुलाकर उस जैसी छः तस्वीरें उसके सामने रख दीं और उसे अपनी तस्वीर ढूंढने के लिए कहा। पहले दौर में वह असली तस्वीर को नहीं पहचान सका। जहांगीर शिकार के

साथ पक्षियों, हिंसक पशुओं को देखने का बेहद शौकीन था। वह जब शिकार के लिए निकलता तो चित्रकारों का दल उसके साथ होता। जिस जानवर अथवा पक्षी की ओर उसका संकेत होता चित्रकार उन्हें अपने रंग में ढाल देते। मन्सूर नामक चित्रकार पक्षियों के चित्र बनाने मे दक्ष था। अनेक दूसरे चित्रकार पक्षियों तथा पशुओं के चित्रण मे प्रवीणता हासिल कर चुके थे। घुड़दौड़ तथा घोड़ों के दूसरे खेलों को इसी काल में कागज़ों पर रंगों से ढाला गया। इस काल में वैयक्तिक ख़ाकाकशी खूब उभर कर सामने आई। जहांगीर और शाहजहां के काल में दरबारी लोग उनकी छोटी तस्वीर को पगड़ी के आगे बांधते थे।

शाहजहां के समय फलों और फूलों को चित्रित करने का रिवाज चल पड़ा था। इमारतों के सुन्दर नमूने तथा मुग़ल बागों के नैसर्गिक सौन्दर्य को पृष्ठभूमि में चित्रित किया जाने लगा। चित्रकार धीरे-धीरे मानवीय ख़ाकों को सजाने लगे थे। यह शैली अब ''पोर्टरेचर'' की ओर उन्मुख थी। बाद में बनाई गई तस्वीरों में दरबार का सुन्दर और वृहद रूप तथा वैयक्तिक चित्रों का भण्डार इस ओर संकेत करता है। मोर सिंहासन पर विराजमान शाहजहां का चित्र इसका उदाहरण है। इसी दौर में ''सियाह कलम'' अर्थात काले रंग के खाके बनाने का भी प्रचलन शुरू हुआ। जिसके माध्यम से थोड़े समय में बहुत कम कीमत पर यथार्थ खाकों को तरतीब दी जाने लगी थी।

औरंगज़ेब के शासन काल में अन्य कलाओं की तरह चित्रकारिता को भी धक्का लगा। इसके आसार शाहजहां के काल में ही दृष्टिगोचर होने लगे थे। औरंगज़ेब कट्टर मुसलमान था। अतः इन्सान को मूर्त रूप देना उसके अनुसार गलत था। किन्तु चित्रकार उसके दरबार, यात्राओं और विजयों का ब्योरा चित्रों में उतारते रहे। औरंगज़ेब की दुनिया से अलग दरबारियों, अमीर-उमरा लोगों की दुनिया थी। वे लोग ऐश्वर्य मे जीवन बिताते थे। इस जीवन पर आधारित अनेक तस्वीरें मुग़ल शैली में चित्रित हुईं। किन्तु, शाही संरक्षण लगभग समाप्त हो चुका था। अतः कुछ चित्रकारों ने अपनी दुकानें सजा लीं और कुछ पंजाब और उसकी पहाड़ी रियासतों की ओर उन्मुख हुए। कुछ राजपूताना की रियासतों की ओर निकल पड़े। इस तरह यह सिलसिला बिखर गया। इस काल के प्रसिद्ध कलाकारों में गोवर्धन, हुनर, मन्सूर, मनोहर, विचित्र तथा बासवां चर्चित हुए थे। गोवर्धन तथा बासवां के नाम बाद में पहाड़ी शैली के साथ भी जुड़े।

चित्रकारों का एक दल मुग़ल दरबार से राजस्थान होता हुआ पहाड़ी रियासतों की ओर उन्मुख हुआ। सत्रहवीं शताब्दी में जम्मू एक शक्तिशाली पहाड़ी राज्य था। महाराजा रंजीत देव के राज्यकाल में 21 पहाड़ी रियासतें-जसरोटा, मनकोट, भड्डू, बसोहली, उधमपुर, लखनपुर, किरमची, भू-भाग,

रामनगर आदि जम्मू के राज्य को खैरात देती थी। जम्मू एक बहुत अच्छा सांस्कृतिक और व्यापारिक केन्द्र बना चुका था। कुछ चित्रकार रंजीत देव के दरबार में भी पहुंचे जहां उन्हें सम्मान मिला। रंजीत देव राजनीति तथा दूसरे मामलों में संलग्न रहता था। उसे इतना समय नहीं था कि इन कलाकारों को उचित स्थान दे। पर महाराज का छोटा भाई राजा बलवंत सिंह, जो कि जसरोटे का राजा था। कला पारखी और कलाकारों का विशेष तौर पर सम्मान करता था। इसके दरबार में प्रसिद्ध चित्रकार पंडित शिवू और उससे दो बेटे—नैनसुख और मानकू सुशोभित हुए। यही वह परिवार था जिसने बाद में बसोहली शैली की अमर रचना की इन कलाकारों का अनुभव मुग़ल शैली पर आधारित था। इस दरबार में आकर इन्होंने अनेक नये विषयों को चुना। जम्मू और बसोहली के दरबारों में प्रस्फुटित यह कला बाद में कांगड़ा और गुलेर शैली में पल्लवित हुई। वस्तुतः राजा बलवंत सिंह की मृत्यु के बाद यह परिवार रावी के उस पार नूरपुर, कांगड़ा और गुलेर की पहाड़ी रियासतों की ओर चल पड़ा, जहां उपयुक्त वातावरण पाकर इन कलाकारों ने कुछ अमर कृतियां विश्व को दीं जो बाद में कांगड़ा और गुलेर की शैली के रूप में विकसित हुईं।

यह अठारहवीं शताब्दी का प्रथम चरण था। बाद में जब गुलेर के राजाओं की ओर से इनके प्रति रुख ठंडा पड़ने लगा तो ये कलाकार एक बार फिर संरक्षण की खोज में निकल पड़े। राजा संसार चन्द उस समय इनको अपने राज्य में लिवा ले गया। इस प्रकार यह कलम एक बार फिर जम्मू और बसोहली में पल्लवित होने लगी। वस्तुतः यह गुलेर ही था जहां पहाड़ी कलम ने अपनी निश्चित और विशेष शैली को पाया। इसी ओर डॉ० डबल्यू. जी. आरचर ने भी संकेत किए हैं कि गुलेर ने पहाड़ी कलम के विकास में निर्णायक भूमिका अदा की। 18वीं शताब्दी में गुलेर से कांगड़ा और कांगड़ा से फिर दोबारा चम्बा, बसोहली और जम्मू की पहाड़ी रियासतों में यह शैली अपना प्रभुत्व जमाने लगी। इस प्रकार कांगड़ा शैली सारी पहाड़ी रियासतों में न केवल चर्चित हुई अपितु एक केन्द्रीय पहाड़ी शैली के तौर पर पहचान पाने में समर्थ हुई। पहाड़ी चित्रकला को विश्व कला मंच तक ले जाने का श्रेय डॉ० आनन्द कुमार स्वामी को जाता है। अक्सर पहाड़ी शैली को राजपूत शैली में ही लिया जाता रहा था। पहली बार डॉ० कुमार स्वामी ने राजपूत शैली को मुगल शैली से अलग करते हुए राजपूत शैली में राजस्थानी और पहाड़ी दो उप शैलियों को स्थापित करते हुए कहा कि इन चित्रों में प्रणय से बुना हुआ एक अद्‌भुत वातावरण है जो चीनी कलाकारों ने दृश्यांकन में पाया है वह यहां प्रणय से सराबोर है।......इस तरह की भावाभिव्यक्ति शायद ही कहीं उपलब्ध हो। प्रेमियों के बाजू एक दूसरे के गले में लिपटे हैं, आंखें-

आंखों से लगी हैं। सभी कृष्ण की बांसुरी में तन्मय हैं और सारा वातावरण स्तब्ध-सा खड़ा राग-रागिनियों को सुन रहा है। यह उक्ति उनकी पुस्तक "राजपूत पेंटिंग्स" से है, जिसने विश्व भर के कलाविदों का ध्यान पहाड़ी शैली की ओर आकर्षित किया। पहाड़ी शैली में कलाकारों ने भागवत पुराण, सुखसागर आदि पौराणिक ग्रन्थों तथा महाकाव्यों से आधार लेने के साथ स्थानीय राजाओं का चित्रण भी किया।

पहाड़ी लघुचित्रकला : जम्मू शैली

जम्मू नगर तवी नदी के किनारे एक पहाड़ी पर है। जंगली झरबेरियों, कीकर, बबूल, शीशम, शहतूत, वरॅकड़, सैंथा, भांग, धतूरा आदि वनस्पतियों के लिए प्रसिद्ध जम्मू अठारहवीं शताब्दी में शक्तिशाली पहाड़ी रियासत के रूप में उभरा। अनेक पहाड़ी रियासतें—जसरोटा, मनकोट, बसोहली, रियासी, उधमपुर, भू-भाग, बंदरालता, किरमची आदि इसकी अधीनता स्वीकार कर चुकी थीं। आसपास के इलाकों से अनेक कलाकार राज्य परिवारों के साथ, नादिरशाह के हमले के बाद पहाड़ों की ओर उन्मुख हुए तो जम्मू का राज्य उन्हें बहुत सुरक्षित लगा। महाराज रंजीत देव, जो उस समय का शक्तिशाली शासक था, इन विस्थापित परिवारों के लिए संरक्षक सिद्ध हुआ। इसी समय दिल्ली दरबार से रूठकर अथवा रोजी-रोटी की खोज के लिए कलाकारों का एक कारवां भी जम्मू आया था। इन कलाकारों में संगीतज्ञ और दूसरी कलाओं में दक्ष अनेक लोग थे। पंजाब व दिल्ली से आने वाले राज परिवारों के साथ भी चित्रकारों का दल जम्मू पहुंचा। इन चित्रकारों में पंडित सियु तथा नैनसुख और मानकू भी थे, जो मुगल दरबार और बाद में लाहौर में चित्रकारिता में दक्षता हासिल कर चुके थे। पहाड़ी कलम की नींव इसी परिवार ने डाली।

जम्मू नगर में जन श्रुति के अनुसार समाधियां नामक स्थान पर तवी के किनारे एक चित्रशाला स्थापित की गई थी, जिसमें स्थानीय चित्रकारों के अलावा रियासी, उधमपुर, बंदरालता, किरमची, भू-भाग आदि राज्यों से अनेक चित्रकार अध्ययन तथा अनुभव पाने आते थे। इस चित्रशाला में रणजीत देव का छोटा भाई राजा बलवंत सिंह, जिसकी जागीर जम्मू से लगभग एक सौ किलोमीटर पूर्वोत्तर में सरूईंसर की प्राकृतिक झील के आसपास थी, बहुत दिलचस्पी लेता था। बाद में यही राजा बलवंत सिंह जसरोटा, रियासत का राजा बना, जिसकी राजधानी उसने सरूईंसर ही रखी। इस चित्रशाला में वैयक्तिक खाकों (पोर्टरेचर) पर सम्भवतः पहली बार अभूतपूर्व कार्य हुआ। महत्वाकांक्षी बलवंत सिंह चाहता था कि इन चित्रों के माध्यम से वह अमर हो सके। अतः उसने अनेक एकल चित्र अपने दैनिक कार्य में संलग्न रहते चित्रित करवाए। यहां तक कि नितान्त वैयक्तिक जीवन को चित्रित करने के

लिए भी उसने चित्रकारों को प्रेरित किया। नैनसुख इन चित्रकारों में सर्वोपरि माना जाता है। कालान्तर में नैनसुख तथा उसके साथी जम्मू की चित्रशाला छोड़कर जसरोटा आ पहुंचे और राजा बलवंत सिंह के राज-चित्रकार के रूप में प्रसिद्ध हुए। नैनसुख को बहुत छूट थी। वह कोई भी विषय चुन सकता था। पर केन्द्रीय पात्र राजा बलंवत सिंह ही होता था। राजा के वैयक्तिक आवास में भी नैनसुख को जाने की छूट थी। राजा के अनेक ऐसे चित्र मौजूद है जिनमें उसे अपनी रानियों से सहवास करते हुए दर्शाया गया है। राजा की मृत्यु के बाद जम्मू और जसरोटा रियासतों में इन चित्रकारों का शक्तिशाली संरक्षक खत्म हो गया। अत: नए संरक्षण की तलाश में नैनसुख, उसके बेटे तथा कुछ शिष्य नूरपुर, बसोहली और कांगड़ा की ओर उन्मुख हुए। समाधियां में स्थापित चित्रशाला कार्य करती रही पर फिर कोई विशिष्ट कृति सामने नहीं आई।

जम्मू शैली में अधिकांश राजा बलवंत सिंह के एकल चित्र है। अन्य चित्रों में दरबारियों, महलों, सरूईसर के किनारे महल में हुक्का गुड़गुड़ाते राजा बलवत सिंह को दर्शाया गया है। इन चित्रों में नैसर्गिक सौन्दर्य, हरियाली तथा वृक्षों की पृष्ठभूमि का अभाव खलता है। वस्तुत: ये चित्र व्यक्ति विशेष पर केन्द्रित थे। कहीं पर भी परिवेश को व्यक्ति पर हावी नहीं होने दिया गया। इसे स्कूल ऑव पोर्टरेचर की संज्ञा देना ही उचित है। इस शैली के चित्रों में, बाद में उभरने वाली बसोहली तथा कांगड़ा की कृतियों की तरह, स्वप्निल वातावरण, प्रणय सूत्र, कोमलांगियों के मांसल तथा सूक्ष्म चित्रण का नितान्त अभाव है। महिला पात्र हैं भी तो कपड़ों से लिपटे। लम्बी नासिका और बहुत टेढ़ी भौंहें, उन्हें सामान्य सौन्दर्य से बाहर ले आती हैं। घाघरा और चोली से ढकी ये नायिकाएं नारी सुलभ सौन्दर्य और कोमलता से दूर पुरुषोचित बाहों और तंग पाजामों से लिपटी लम्बी टांगों से पहचानी जा सकती हैं। लम्बा घाघरा पीछे की ओर खिचा लगता है जिससे पारदर्शित होकर पाजामें में लिपटी टांगे आभासित होती हैं।

एक अजीब-सा खुरदरापन लिए हुए, ये चित्र बाद में उभरने वाली बसोहली और कांगड़ा शैलियों में बने चित्रों से पिछड़ जाते हैं। राजाओं और दरबारियों के लवादे बसोहली तथा कांगड़ा के पुरुषपात्रों के लबादों की तरह हैं। लम्बे-लम्बे चोगे और सर पर मुग़लिया अंदाज की पगड़ियां इन पुरुष पात्रों को मुखरित करती हैं। गहरे हरे, नीले और पीले रंगों से पुते ये चित्र उदासी का आभास दिलाते हैं। पृष्ठभूमि में पौधों और पक्षियों के अभाव के कारण उदासी और गहरा जाती हैं।

बाद में यह शैली डोगरा राजाओं के काल तक एक समान्तर धारा की तरह बहती रही पर बीच में पंजाब के शक्तिशाली राज्य के अधीन हो जाने

ने जम्मू और आसपास की रियासतों के सामाजिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा। इस प्रभाव से चित्रकार भी वंचित नहीं रह पाये। चुनांचे इस काल के चित्रों में पंजाबी रहन-सहन तथा पहनावा झलक देता है। पंजाबी लहंगे की तरह घाघरा तथा पुरुषों की तहमद की तरह का अधोलिबास, जो घुटनों तक उठ आया है, आदि चित्रित किए गए हैं। ऐश्वर्य और नितांत वैयक्तिक क्षणों को सर्वसाधारण के सामने खुलकर जीने की लालसा की झलक भी इन चित्रों में हमें मिलती है। सिक्ख पगड़ी, जो सर पर चारों ओर से लपेट ली जाती है, इन चित्रों में उपलब्ध हैं। 19वीं शताब्दी के अंत तक जम्मू शैली के चित्रों में वैयक्तिक प्रभाव भी खत्म होता गया है। राज दरबार, दरबारियों तथा तकियों से टेक लगाए, हुक्का गुड़गुड़ाते हुए राज्य अधिकारियों के इक्का-दुक्का चित्र इस काल में मिलते हैं। फिर इस शैली ने करवट ली और तांत्रिक चित्रों की ओर बढ़ी। इनमें बनफशी, नीला, गहरा सुर्ख, भूरा काला तथा पीला रग प्रयोग किया गया। कई रंग पहली बार पहाड़ी शैली के चित्रों में इस्तेमाल हुए। रेखाओं, वृक्षों, शून्य, बिन्दुओं और अनेक दूसरे ज्यामितीय आकारों से इन चित्रों में नए धरातल तलाशे गए। इन चित्रों को देख कर यद्यपि रोमांस एवं कोमल भावों से युक्त संवेदनशीलता समाप्त हो जाती है, तथापि आश्चर्यजनक प्रभाव मनोमस्तिष्क पर ये चित्र अंकित कर जाते हैं। ये प्रभाव रंगों के कारण हैं या ज्यामितीय एवं तांत्रिक प्रतीकों के कारण समझना कठिन है। पचासों चित्रों की रचना महाराजा प्रताप सिंह के काल तक हो चुकी थी।

जम्मू शैली के अन्य चित्रों में कुछेक उधमपुर, रियासी, पुन्छ तथा बन्दरालता की रियासतों में भी चित्रित किए गए हैं। इन चित्रों में महलों, चौबारों, तथा बड़ी-बड़ी मसनदों कढ़े हुए कालीनों आदि पर गोल तकियों से टेक लगाए हुए शाही परिवार के सदस्यों और राज दरबारियों को देखा जा सकता है। खिड़कियों को लम्बे कढ़े हुए पारदर्शी पर्दों तथा झालरों से ढका गया है। तकियों पर भी कढ़े हुए पोश हैं। महलों-चौबारों को अनेक खड़े स्तम्भों में बांटा गया है। वैयक्तिक तस्वीरों मे मुख्य पात्र का सिर और चेहरा दूसरे पात्रों एव चरित्रों से अनुपातत: बड़ा तथा बेडौल है।

जम्मू शैली के लघुचित्रों में विशेष प्रभावात्मक रंगों का प्रयोग किया है। शुद्ध सोने से बना सुनहरी रंग शाही पात्रों के लिबासों तथा इन चित्रों के हाशियों के लिए बहुतायत में प्रयोग हुआ है। इसके अलावा गहरे नीले, हरे, पीले और जामुनी रंगों का प्रयोग भी बखूबी हुआ है पर कांगड़ा और बसोहली शैली की कोमलता, संवेदना तथा सौन्दर्य को जम्मू शैली के चित्र अभिव्यक्त करने में असमर्थ रहे हैं।

मूकता का स्वर बसोहली कलम—रावी के किनारे अपने इतिहास में डूबा एक छोटा-सा कस्बा बसोहली है। कभी यह डोगरा राजाओं की राजधानी था। यह राज्य अपनी विशेष भौगोलिक स्थिति तथा मुग़ल दरबार से आए शाही चित्रकारों के कारण पड़ोस के राज्यों में जहां सम्मिलित था वहीं ईर्ष्या का कारण भी बन चुका था। जम्मू से लगभग एक सौ किलोमीटर पूर्व-दक्षिण की ओर शिवालिक पहाड़ियों पर स्थित बसोहली के राजमहल कलाविदों के लिए आश्चर्य और कौतूहल का कारण रहे हैं। खंडहर उस स्थापत्य के ऐश्वर्य को प्रकट करते हैं। 1835-40 के बीच थॉमस विगने ने इन राजमहलों से प्रभावित होकर लिखा था कि "जम्मू जाते हुए मार्ग से ये अन्धकार में आंखों को ताजगी देते हुए उभर आते हैं। मुझे लगता है कि मैं हैडलवर्ग का सौन्दर्य देख रहा हूँ।"

कभी ये राजमहल नृत्यकरती सुन्दरियों, श्रीकृष्ण और गोपियों की प्रेम कथाओं के भित्तिचित्रों से सज्जित थे। बीच-बीच में लघु चित्रों से दीवारें सजी रहतीं, जिनमें स्थानीय राजाओं का अंकन भी होता था। कनिंघम के अनुसार सत्रहवीं शताब्दी के अंत में जम्मू के पूर्व में स्थित मनकोट की पहाड़ी रियासत में, जिसे आजकल रामकोट कहा जाता है, एक अद्भुत चित्र शैली का शुभारम्भ हुआ। पहाड़ी क्षेत्र तथा पंजाब के मैदानों में एक शताब्दी तक चर्चित इस चित्रकला को यद्यपि मुग़ल शैली से ही प्रभावित समझा गया किन्तु इसकी कुछ अपनी विशेषताएं थीं। राजा महीपत देव की तस्वीर सम्भवतः पहाड़ी क्षेत्र में सबसे पुरानी मानी जाती है। मनकोट से यह कलाशिल्प राजा किरपाल के जमाने में (167‌-93) बसोहली पहुंचा। इस शैली की पहली कुछ तस्वीरें शिव, पार्वती, भागवत पुराण की कथाओं तथा भानुदत्त की रसमंजरी पर आधारित थीं। राजा मेदिनीपाल के समय इस शैली में कई विकासोन्मुख परिवर्तन हुए, जो इसे सम्पूर्णता की ओर अग्रसर करते गए। यही नहीं इस कला के संरक्षकों ने जम्मू, गुलेर, और नूरपुर के महान कलाकारों को भी बसोहली के राज दरबार में आने के लिए निमन्त्रण दिए। इस तरह जम्मू से नैनसुख और गुलेर से मानकू बसोहली दरबार पहुंचे। इन कलाकारों तथा इनके वंशजों ने बसोहली शैली को एक विशेष दिशा प्रदान की। प्रणय कथाओं की महाकाव्यों के आधार पर एक खूबसूरत श्रृंखला चित्रित करने के साथ वे वैयक्तिक चित्रों का भी अंकन कर रहे थे। भागवत पुराण के साथ-साथ रामायण भी बसोहली में चित्रित की गई। भानुदत्त की रसमंजरी ने कलाकारों को इतना आनन्दित किया कि 17वीं शताब्दी के अंत तक इसकी तीन श्रृंखलाओं का विकास हुआ। पहली श्रृंखला वोस्टन संग्रहालय, दूसरी डोगरा आर्ट गैलरी, जम्मू और तीसरी भारत-भवन, वाराणसी में संग्रहित है। इसी विषय पर एक

श्रृंखला इसी शैली में नूरपुर में भी तैयार की गई, जो कस्तूरबा संग्रहालय, अहमदाबाद में संग्रहित है।

बसोहली चित्रकला का फलक बहुत विशाल है। धार्मिक और पौराणिक चित्रों से लेकर सामाजिक, राजनैतिक, प्राकृतिक और स्थानीय विषयों पर बसोहली के चित्रकारों ने अपनी तूलिका चलाई। इनका केन्द्रीय भाव कृष्ण-गोपियों का प्रणय रहा है। वस्तुत: रसमंजरी में नायक-नायिका के भेदों को व्यक्त करने के लिए कृष्ण और राधा का सहारा लिया गया है। अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में मानकू ने गीत-गोविन्द में दी गई राधा-कृष्ण की अद्भुत प्रेमलीला को चित्रित किया था। बसोहली चित्रकला की सबसे बड़ी विशेषता सौन्दर्य और पहाड़ी लोकमानस की सच्ची सहज अभिव्यक्ति है। पारखियों ने इसमें भौतिक तथा आध्यात्मिक अभिव्यक्ति को साथ-साथ देखा है। नायिका के चेहरे पर पुरुषोचित आभा इसे अन्य पहाड़ी शैलियों से अलग करती है। कहा जाता है कि कलाकार बसोहली के तत्कालीन युवराज संग्रामपाल के चेहरे से अति प्रभावित थे। कृष्ण चैतन्य के अनुसार इसी चेहरे पर नायिकाओं के चेहरे चस्पां किए गए थे। यह युवराज 1655 ई० में बसोहली की गद्दी पर बैठा था। नायिकाओं के छोटे, पीछे की ओर तंग होते माथे, लम्बी नाक, भीतर की ओर धंसी हुई ठोड़ी, उन्नत भौहें, गहरी झील सी मछली आकार की बड़ी-बड़ी आंखें, लम्बे खुले केश हैं। वे अनेक प्रकार के आभूषणों जैसे कंठहार, कानों में छोटी बालियों, बाजुओं में बाजूबंद, हाथों में चूड़ियां तथा कड़ों के साथ कमर में कमरबंद, पांव में पाज़ेब, उंगलियों में मुंदरियां पहने हैं। वस्त्रों में प्रधान है ओढ़नी, पारदर्शी घाघरा, बहुरंगी ब्लाउज, जो केवल उरोजों के उपरी भाग तक को ही ढकता है। किनारी तथा बेलबूटों से काढ़ा गया दुपट्टा, जो आधे सर को ढकता हुआ नीचे चला जाता है। हाथों की विशेष भंगिमायें इन नायिकाओं को तस्वीरों की केन्द्रीय इकाई बना जाती हैं। अनेक बार महिलाओं की पारदर्शक ओढ़नी के नीचे तंग पाजामा और ऊपर ब्लाउज़ पहने दर्शाया गया है। पुरुष पात्र कम हैं। श्रीकृष्ण को राधा के साथ अनेक क्रियाओं में दिखाया गया है—कहीं दीपक या शीशा दिखाते, अथवा गाय को दोहते हुए, जिसमें राधा ने बछड़ा पकड़ा हुआ है। कहीं श्रीकृष्ण का सांवला मुकुटधारी रूप छोटी और बड़ी मालाओं से अलंकृत है। लकड़ी की खड़ाऊं पहने श्रीकृष्ण प्राय: इन तस्वीरों में प्रणय विह्वल है।

बसोहली शैली में स्थापत्य के सुन्दर नमूने भी दृष्टिगोचर होते हैं—एक मंजिला, दुमंजिला, बुर्जियों सहित चौबारे, भित्ति चित्रों से अलंकृत दीवारें, गोलाकार स्तम्भों पर टिकी हुई प्राचीरें तथा किनारी डिज़ायनों से सजी छत की मुंडेरें। चित्रकार स्थापत्य तथा प्रकृति में संतुलन रखता हुआ चौबारों तथा महलों की प्राचीरों के साथ-साथ "स्पेस" का ऐसा प्रयोग करता है कि काफी

भाग प्राकृतिक अंशों की अभिव्यक्ति के लिए बच जाए। झरबेरी के रूप में वृक्षों का जंगल, कहीं-कहीं पक्षियों तथा पशुओं का दृश्यांकन इस बात की गवाही देता है। अक्सर वृक्षों का आकार आम अथवा बरगद के वृक्षों की तरह ऊपर से गोलाई में बन्द होता है। कहीं कोई पत्ता अथवा बरगद की टहनी इस व्यवस्था को तोड़ती नहीं है, मानों उनकी कटाई करके उन्हें किसी गुलदस्ते का रूप दे दिया हो। आम, जामुन, बरगद तथा केले के वृक्षों के साथ झाड़ियों को भी अंकित किया गया है।

प्राथमिक रंगों पर ही ज़्यादा ज़ोर दिया गया है। सुर्ख, पीले और नीले रंगों को हल्का या ज्यादा उभार कर रंगों में अन्तर लाया जाता रहा है। चित्रों की ज़मीन हल्के रंगों से तैयार की जाती थी। ताकि दूसरे रंगों का मिश्रण मुखरित हो सके। हरा, गहरा, नीला, अति सुर्ख, नीलाभ, पीला केसरिया आदि रंग इन तस्वीरों में उभरे हैं। वस्तुत: पहाड़ी शैली के चित्र राजपूत शैली के लघुचित्रों के अति करीब हैं पर पहाड़ी अंदाज़ में महिला मुखौटे अपनी विशिष्टता रखते हैं। यह विशिष्टता अति यथार्थपूर्ण मुखौटों की खोज में लुप्त होती गई। बाद की कुछेक तस्वीरों में बसोहली शैली की वह शक्ति नहीं रही जिसे देखते ही पहचाना जाता था। शारीरिक संतुलन तथा रंगों में असामजस्य नजर आता था।

बसोहली शैली की सबसे बड़ी विशेषता इन चित्रों की खामोशी है। वातावरण ठहरा-सा लगता है। इसका बड़ा कारण शायद इसमें चित्रित पौधों तथा संकुचित वृक्षों के आकार हैं। आकाश में अटके पक्षी, कहीं कोई पत्ता हिलता नजर नहीं आता। मात्र कुछ भाव भंगिमाएं और रंगों से मुखरित स्वर दर्शकों को उत्प्रेरित कर जाता है।

मुलायम रंगों का अद्भुत कमाल : कांगड़ा शैली—चम्बा, गुलेर और मण्डी की रियासतों से घिरी कांगड़ा की शक्तिशाली पहाड़ी रियासत कई मायनों में अपना अस्तित्व बरकरार रखे है। रियासत मैदानी इलाकों के सबसे ज्यादा करीब थी अत: देश की राजनीतिक उथल-पुथल से यह कभी अलग नहीं हो सकी। विशेषकर बाहरी आक्रान्ताओं का प्रभाव इसके बाशिंदों पर पड़ता ही रहा था। 7वीं शताब्दी में कन्नौज के तो 9वीं में यह क्षेत्र कश्मीर के अधीन रहा। 1008/9 ई० में महमूद ग़ज़नवी ने कांगड़ा में लूटपाट की और अनमोल खजाना लेकर चला गया। 1191-93 में यह राज्य दिल्ली के सुल्तानों के अधीन रहा। 1337 ई० में कांगड़ा पर मुहम्मद तुगलक ने आक्रमण किया पर 1351 ई० में कटोचों द्वारा यह राज्य स्वतन्त्र करवा लिया गया। बीच में अनेक बार हमले हुए पर अंतत: सोलहवीं शताब्दी के मध्य तक यह राज्य कटोच राजपूतों का सशक्त गढ़ रहा। 1556 ई० में अकबर के समय यह मुग़लों के

अधीन हो गया। इस तरह कांगडा राज्य बाहरी और देश की अन्य शक्तियों के सम्पर्क में आता रहा। इस समय राज्य की राजधानी में अनेक परिवर्तन आए। अनेक बार कांगड़ा से उठाकर तीरा सुजानपुर और बदाऊं में कांगड़ा की राजधानियां क़ायम की गईं।

पहाड़ी चित्रकला का प्रारम्भ मनकोट, जसरोटा, बसोहली तथा जम्मू शैली से और उत्कर्ष कांगड़ा कलम के रूप में हुआ। 17वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अनेक चित्रकार मुगल दरबार को छोड़कर पहाड़ी रियासतों में पहुंचे थे। प्रारम्भ में पहाड़ी कलम में जम्मू-बंदरालता की पहाड़ी शैली का वर्चस्व रहा। नादिरशाह के भारत पर आक्रमण से पुन: चित्रकार पहाड़ों में आये और इनमें से कुछेक जम्मू और कांगड़ा की रियासतों में संरक्षण पा गये। जैसा कि कहा जा चुका है कि इन्हीं में पंडित सियु तथा उसके बेटे नैनसुख और मानकू थे। हिमालय के उन्मुक्त वातावरण में मुग़ल तथा राजपूत शैली स्थानीय पुट पाकर पहाड़ी शैली के रूप में मुखरित हुई। राजा बलवंत सिंह की मृत्यु के बाद नैनसुख और उसके बेटे नूरपुर और गुलेर की रियासतों की ओर चले आए। गुलेर में तब राजा गोवर्धन चंद का राज्य था। गुलेर के राजा ने नैनसुख को यथोचित सम्मान दिया। बाद में उसके बेटे राजा प्रकाश चन्द (1773—1820) से इन कलाकार को सम्पूर्ण संरक्षण मिला। यहीं से कांगड़ा कलम का उदय शुरू हुआ। 1780 के आसपास नैनसुख के बेटे गोघू. निक्का तथा राजा कांगड़ा के कटोच राजा संसार चंद के दरबार में पहुँचे। संसार चंद कला का उपासक तथा पारखी था। आपातकाल में भी, जबकि कांगड़ा की घाटी गोरखा आक्रमणों से घिरी थी, राजा संसार चंद चित्रकारों को प्रोत्साहित करता रहा। यहीं पर कांगड़ा और गुलेर शैली विकसित हुई और पहाड़ी चित्रकला की विभिन्न शैलियों पर इसने अपना वर्चस्व स्थापित किया।

कांगड़ा कलम की सबसे बड़ी विशेषता नारी सुलभ कोमलता, संवारे मांसलता और पारदर्शी सौन्दर्य है। बसोहली कलम में नारी पात्रों के चेहरों पर पुरुष आभा झलकती है। कांगड़ा शैली में पुरुष पात्र भी कोमल, नारी सुलभ लगते हैं। नायिकाएं अति कोमलांगी और आकर्षक हैं। छोटा तुंग माथा, जो नीचे लम्बी नाक तक समान्तर सा लगता है। अधखुले रतनारे नयन, संवारे हुए सुन्दर लम्बे चमकीले बाल, जिनकी लटें कानों पर घुंघराले मोड़ बनाती कानों में पड़े कांटों/बालों से भी नीचे गर्दन तक चली जाती है, छोटा मुख और संतुलित शरीर इनको आकर्षक तथा सजीव बनाते हैं। निरवस्त्र स्नान करती हुई अथवा कामक्रीड़ा में संलग्न नायिकाओं के संतुलित और सुडौल शरीर का अंकन चित्रकार की निपुणता की कहानी कहता है। सुडौल नितम्ब, पतली कमर नितम्बों से मेल खाती छाती और शरीर के अनुसार उरोज, मुख, सुराहीदार गर्दन, सभी कुछ बहुत नपा तुला लगता है, हां कहीं-कहीं उरोज

बहुत छोटे दिखाए गए हैं। मानो पूरा शरीर अंकित कर कलाकार संकोचवश उरोजों को चित्रित करते समय दुविधा में पड़ गया हो। कहीं-कहीं गर्दन का अंकन संतुलित नहीं हुआ है। अधिकांश एक दिशा से लिए गये चित्र हैं। एक-दूसरे से बतियाते हुए, देखते हुए। सामने से लिए गए चित्र बहुत कम हैं—अगर हैं तो उनमें संतुलन कहीं-कहीं बिगड़ा है।

प्राकृतिक सौन्दर्य के अंकन में कांगड़ा की कलम असाधारण है। हरीतिमा से ढके निकुंज, खुले पत्तों वाले वृक्ष, वल्लरिओं फूलों से महकती बेलें, सरू, आम और केले के वृक्षों की बहुतायत इन तस्वीरों में मुखरित हुई है। जहां बसोहली के चित्रों में वृक्ष गुलदस्तों की तरह सजे, कटे और तराशे गए गुम्बद गोल हैं वहीं कांगड़ा कलम के चित्रों में वृक्षों की बनावट बिल्कुल प्राकृतिक है। प्राकृतिक सौन्दर्य को बढ़ाते मोर, तोते, सारस पानी में तैरती बत्तखें तथा साँप, हिरन-गाय, बछड़े आदि चित्रों पर उभरे हैं। जैसे केले का तना विरहिनी नायिका के लिए पुरुषत्व का, सांप लिंग का और फलों से महकती बेलें मिलन का प्रतीक हैं।

इन चित्रों में तीन आधार रंगों—पीले, नीले, और सुर्ख रंगों का प्रयोग अधिक हुआ है। इन्हीं रंगों के मेल से अन्य रंग बने हैं। सतरंगी, हरा, नीलाभ, भूरा स्लेटी, गुलाबी आदि। सुनहरी रंग का प्रयोग अक्सर काम क्रिया या राजसिंहासन, चौकी आदि की अभिव्यक्ति के लिए हुआ है। नायिका भेद एवं वातावरण की सटीक अभिव्यक्ति के लिए भी रंगों का प्रतीकात्मक ढंग से प्रयोग किया गया है। जैसे खण्डिता नायिका की वेश-भूषा सुर्ख रंग में है। यद्यपि उसके चेहरे से क्रोध का आभास नहीं मिलता तथापि इसी को सुर्ख रंग पूरा करते दीखते हैं। एक और तस्वीर में काम-क्रीड़ा में रत राधा-कृष्ण का चित्रांकन है। जिसमें उत्तेजित वातावरण को दर्शाने के लिए केले का वृक्ष पूरी हरीतिमा से ढकी बैठक, फलों से महकती वल्लरियां और सुनहरी रंग से पुती हुई शयनकक्ष की चौगाठ, रात्रि का मटमैला वातावरण सभी कुछ मानों नायक-नायिका को प्रेरित कर रहा हो। महल, चौबारों तथा कालीनों से सजी बैठकों के अंकन में मुग़ल दरबार की झलक मिलती है तो राजाओं, दरबारियों और आम आदमी में अंतर दर्शाने में चित्रकार निपुण है। नायिकाएं तंग चोली तथा खुला घाघरा पहने हैं। चोली कमर तक चली गई है जो बसोहली कलम में उरोजों को ढकती मात्र है। सिर का दुपट्टा या किनारी वाला ओढ़नी नीचे तक चली जाती है। माथे पर टीका, नाक मे नथ (नाक का गहना विशेष) कान में बाले या कांटे, कलाइयों में चूड़ियां और कड़े, पांव में पाज़ेब आदि गहनों से सजी नायिकाएं और गले में हार, कान में बाले, बाजू में बाजूबंद, कलाइयों में कड़े आदि पहने पुष्प पात्र दिखाए गए हैं। (हैसियत के अनुसार मुकुट अथवा खाली सिर दिखाया गया है।

कांगड़ा चित्रकला में कुछ कमजोरियां बुरी तरह खलती हैं। चित्रों में पहाड़ी वातावरण सामान्यता गायब है। ऊँचे बर्फ से ढके पहाड़, देवदार, चीड़ बांज के बन, पहाड़ी चश्में और नदियों का आभास इन चित्रों में नहीं मिलता। लगता है कि मुग़ल और राजपूत कला के धरातल पर ही पहाड़ी ललनाओं, राजाओं और दरबारियों के चित्र बनाये जाते रहे हैं। कहीं बर्फ के फाहे नजर आते है तो दूसरी कमी अखरती है। पशुओं के चित्रण में की गई लापरवाही है। इन कमियों के बावजूद कांगड़ा कलम के चित्र आज विश्व के श्रेष्ठतम संग्रहालयों में पहाड़ी चित्रकला का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं।

पारदर्शी शरीरों और मांसलता को प्रतीक : गढ़वाल शैली

उत्तराखण्ड अपने नैसर्गिक सौन्दर्य और सम्पदा के लिए तो प्रसिद्ध रहा ही है। यह भारतीय सांस्कृतिक चेतना का केन्द्र और उत्तरी भारत में हो रही हलचलों से परिचित रहा है। गढ़वाल शैली के उदय का इतिहास औरंगज़ेब के काल से शुरू होता है। औरंगज़ेब से बचने के लिए सुलेमान शिकोह गढ़वाल के तत्कालीन राजा पृथ्वीपति शाह (1625--1660) के पास संरक्षण के लिए आया था। उसके साथ दिल्ली दरवार के दो पिता पुत्र चित्रकार-शामदास और हरदास भी थे। राजकुमार मेदिनी साह ने सुलेमान शिकोह औरंगज़ेब को सौंप दिया पर दो कलाकारों को वहीं रहने दिया। हरदास की तीसरी संतति मौलाराम (1743—1833) प्रख्यात कवि और गढ़वाल शैली का जन्म-दाता बना। वस्तुत: मौलाराम के पूर्वज शामदास और हरदास चित्रकार कम स्वर्णकार ज्यादा थे। इसीलिए शायद उनके चित्रों के बारे में इतिहास चुप है। हां मौलाराम के पिता मंगतराम के चित्रकार होने की बात मौलाराम ने अपनी रचनाओं में की है और कुछेक चित्र भी मंगतराम कृत मिले हैं। इसलिये मंगतराम को कुछ लोग गढ़वाल शैली का जनक मानते हैं। शुरू के चित्रों में मुग़ल शैली की आभा मिलती है। मौलाराम की तस्वीरों को पहली बार प्रकाशित करने वाले मुकुंदी लाल ने संकेत दिया है कि "मस्तानी" नामक चित्र को देखकर कोई नहीं कह सकता कि यह पहाड़ी शैली के चित्रकार मौलाराम का चित्र है। पर चित्र पर मौलाराम ने स्वयं लिखा है—

मस्तानी चाल मस्त शराबो, बैठी अपने खान में,
सुने राग झुकि-झुकि सखि प्याला दे दस्ताने में ।।
पिवत भर-भर प्याला फिर-फिर मांगत तरातर दोने में ।।
कवि मौलाराम मुस्सवर खींची तस्वीर रिझाने में ।।

यह एक बेगम का चित्र है जिसने अभी-अभी स्नान किया है पर वस्त्र धारण नहीं किये हैं। उसके बाईं ओर एक मुस्लिम बांदी बैठी है जो उसे शराब का प्याला थमा रही है। उसके सामने एक दूसरी स्त्री बैठी तानपुरे पर

कुछ गा रही है। किन्तु जो चित्र बाद में मौलाराम ने बनाए उन पर प्रत्यक्षतः कांगड़ा और गुलेर शैलियों की छाप है। एक हस्तलिखित ग्रंथ में भी मौलाराम ने इस ओर संकेत किए हैं कि कांगड़ा के एक चित्रकार से उसने पहाड़ी शैली के चित्रों का चित्रांकन किया था कांगड़ा के कुछ कलाकार गढ़वाल आए, गढ़वाल से कुछ कलाकार कांगड़ा भी गए थे पर इससे यह बात तय नहीं होती कि मौलाराम स्वयं कांगड़ा गये थे। मौलाराम के दो शिष्य चित्रकार चैतू और मानकू भी प्रसिद्ध हुए हैं। मानक कांगड़ा तथा दूसरी पहाड़ी रियासतों के कलाकेन्द्रों में गया था और वहां की चित्रशैलियों का परिचय लेकर आया था।

आर्चर ने गढ़वाल चित्रकला की भूमिका में लिखा था कि गढ़वाल में एक वैसी ही सुन्दर रसीली, रोमांचक शैली का विकास हुआ जैसी कांगड़ा में। गढ़वाल और कांगड़ा की शैलियां गुलेर कलम में विकसित हुईं। गुलेर के कुछ कलाकार एक बारात में गढ़वाल आए और फिर वापस नहीं गये। इन्हीं कलाकारों की छाप गढ़वाल की चित्रकला पर अमिट हो गई। पर मुकंदीलाल इसे भ्रान्तिमूलक बताते हुए लिखते हैं कि मौलाराम स्वयं कांगड़ा के राज संसार चंद के दरबार में गया था। जहां उसका सम्पर्क अनेक दूसरे कलाकारों से हुआ।

गढ़वाल चित्रकला का विषय अति विशद् रहा है। सांसारिक और असांसारिक विषयों को रंगों में बांधा गया है। शास्त्रीय-पौराणिक ग्रंथ तथा महाकाव्य इन चित्रों के आधार रहे हैं लेकिन दृश्यांकन एवं शारीरिक सौन्दर्य अंकन में नारी का पारदर्शक एवं मांसल शरीर सर्वोपरि है। गढ़वाल शैली की एक विशेषता नायक, नायिकाओं के शरीरों पर सज्जित आभूषण हैं। इन आभूषणों को अति सुघड़ता तथा सूक्ष्मता से तराशा गया है। वस्तुतः ये चित्रकार पेशे से स्वर्णकार रहे हैं अतः गहनों, आभूषणों आदि का अंकन इन चित्रों में हुआ है। बसोहली चित्रकला की तरह पारदर्शी घाघरा तथा चोली नायिकाओं का पहनावा है।

मौलाराम के चित्रों की विशेषता इनकी नायिकाओं का अंकन है। आठ प्रकार की नायिकाएं न केवल अंकित की गई हैं अपितु उन पर छोटे-छोटे पद्य भी लिखे, गये हैं जो उनके सौन्दर्य को पूरी तरह आकलित करते हैं। मौलाराम के पड़पौत्र बालकराम के अनुसार इन आठ प्रकार की नायिकाओं का चित्रण कर मौलाराम ने किसी को भेंट दे दिये थे। आठ प्रकार की नायिकाओं में वासक-सज्जा, विप्रलब्धा, उत्कण्ठिता, प्रोषितपतिका, अभिसारिका, कलहान्तरिता, खण्डिता और आगतपतिका के चित्रण के अलावा पशु-पक्षियों से स्नेह करती हुई नायिकाओं की तस्वीरें भी मौलाराम ने बनाई हैं।

नायिका भेद के अलावा मौलाराम ने पौराणिक विषयों और देवी-देवताओं को बड़ी दक्षता से चित्रित किया है। भागवत पुराण सभी पहाड़ी शैली के

कलाकारों का आधार रहा है। मौलाराम भी इससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहे। मौलाराम के बनाए हुए दस अवतारों के प्रसिद्ध चित्र यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। एक चित्र महाशिव का ध्यानावस्था में लिया गया है। इसे मुकुन्दीलाल ने महादेव आकर्षण की संज्ञा दी है। इन चित्र में महादेव को हिमालय की पृष्ठभूमि में ध्यानवस्था में दर्शाया गया है। पार्वती वीणा वादन कर रही हैं। महाशिव के माथे पर चंदन का तिलक लगा है। दूसरे चित्रों में नरसिंह अवतार, मत्स्य अवतार गोवर्धन धारण, कालियादमन, राधाकृष्ण मिलन आदि चर्चित चित्र हैं।

गढ़वाल शैली में तूलिका चलाने वाले चित्रकारों की एक सामूहिक चित्रमाला "रुक्मणी मंगल" पन्द्रह चित्रों का एक सेट है। इस चित्रमाला में मौलाराम के अतिरिक्त उसके शिष्यों के बनाए हुए भी कुछ चित्र हैं। ऐसा कहा जाता है कि मौलाराम की अपनी एक चित्रशाला थी। जिसमें अनेक उभरते चित्रकार शिक्षा पाते थे। मौलाराम के शिष्यों में वाकर अली प्रदाक, कुंवर प्रीतशाह (मुकुन्दीलाल के अनुसार) तथा. चैतू और मानकू यशस्वी थे वाचस्पति गौरोला ने अपनी पुस्तक में चित्रकार मानकू के कांगड़ा तथा दूसरी पहाड़ी रियासतों में जाकर वहां की चित्र शैलियों के अध्ययन की बात की है। इस ओर मेरे अपने अध्ययन के अनुसार शायद गौरोला पंडित सियु के बेटे मानकू की ओर संकेत कर रहे लगते हैं, जो जसरोटे के राजा बलवंत सिंह की मृत्यु के उपरान्त गुलेर, नूरपुर अथवा बसोहली की रियासतों की ओर चले गये और मानकू की गढ़वाल में जाकर मौलाराम से चित्रकला सीखने की कहीं और चर्चा नहीं मिलती। गैरोला के अनुसार मानकू ने भव्य प्रकृति चित्रों के अतिरिक्त 'बिहारी सतसई और गीत गोविंद" के सुन्दर दृष्टान्त उतारे। इसी प्रकार चैतू साह को श्री कृष्ण की लीलाओं का अभिन्न चितेरा स्थापित किया गया है।

गढ़वाल शैली की सबसे बड़ी विशेषता प्रकृति चित्रण है। बिन पत्तों के वृक्ष विशेषतया मौलाराम के चित्रों में फूलों से लदे हुए मन्दार वृक्ष दर्शाए गये हैं। चौड़े पंखों की तरह फैले हुए वृक्ष तथा कांटेधारी पुष्प वल्लरियों से भरी झाड़ियां, गढ़वाल शैली के चित्रों में बखूबी चित्रित की गई हैं। इन चित्रों में गहरे रंगों-विशेषकर गहरा, नीला, सुर्ख और काले का बहुतायत में प्रयोग किया गया है।

नायिकाओं का अंकन यद्यपि सुन्दर हुआ है पर बसोहली अथवा कांगड़ा की नायिकाओं के समान सौन्दर्य और सन्तुलन नहीं बन सका है। बसोहली शैली की नायिका का माथा तंग होता हुए पीछे की ओर चला जाता है। कांगड़ा शैली की नायिका का माथा तथा नाक मानों एक ही सीध में हो। वहीं गढ़वाल शैली के चित्रों में नायिका का नाक माथे के एक छोटे से गड्ढे से शुरू होता है। घने वालों से भरा हुआ सिर तथा ललाट पर अक्सर चंदन का टीका लगा लेना।

इस कलम की कुछेक विशेषतायें हैं । पृष्ठभूमि में स्थापत्य का एक छत्र राज्य बसोहली शैली से मेल खाता है ।

यद्यपि गढ़वाल शैली के चित्रों का इतिहास और बहुत मात्रा में चित्र भी उपलब्ध हैं तथापि अन्य पहाड़ी शैली के चित्रों के सौन्दर्य सूक्ष्म तत्व तथा रेखाओं की सटीक अभिव्यक्ति के साथ ये तुलना नहीं कर सकते । इन चित्रों पर कांगड़ा शैली का सीधा प्रभाव है ।

संदर्भ

कनिंघम, चाढ़क, बिगले—इन्ट्रोडक्शन टू द, हिस्टरी एण्ड कल्चर ऑव द डोगराज, अजय प्रकाशन, प्रथम संस्करण (सन नहीं दिया गया)।

वाचस्पति गैरोला—भारतीय चित्रकला का संक्षिप्त इतिहास—1972

श्री राम पाल—कलात्मक राजस्थान, 1971

मुकुन्दीलाल—गढ़वाल चित्रकला, प्रकाशन विभाग, 1983

फ्रेन्सिस ब्रुनेल—स्पलैंडर आव इंडियन मिनिएचर्स, विलो आई एन सी न्यूयार्क (संस्करण की तिथि नहीं दी गई)।

डब्लू जी, आर्चर—इन्डियन पेन्टिग इन पंजाब हिल्स, लन्दन, 1952

—इण्डियन मिनिएचर्स, लन्दन, 1960

—कांगड़ा पेन्टिग लन्दन, 1962

—गढ़वाल पेंटिग लन्दन, 1954

—एम. एस. रंधावा—कांगड़ा वैली पेंटिग, नई दिल्ली, 1959

—बसोहली पेंटिग, नई दिल्ली, 1959

कार्ल खंडेलवाल—पहाड़ी मिनिएचर पेंटिग, बम्बई 1958

राधा कृष्ण वशिष्ठ—मेवाड़ की चित्रांकन परम्परा, यूनीक ट्रेडर्स जयपुर, 1984

हेनरी जिमर—द आर्ट आव इण्डियन एशिया जिल्द—1, मोतीलाल बनारसी दास दिल्ली—1984

आनन्द कुमार स्वामी-राजपूत पेंटिग—आक्सफोर्ड, 1916

कृष्ण चैतन्य द यूनीक स्टायल ऑव बसोहली पेंटिग, अखिल भारतीय डोगरी लेखक सम्मेलन स्मारिका 1980

कैप्टन शूरवीर सिंह पवार—उत्तराखण्ड का विद्वान कवि व इतिहास लेखक-मौलाराम-उत्तराखण्ड भारतीय अप्रैल, 1973

मुकुन्दीलाल पहाड़ी कलाकार—कवि मौलाराम का परिचय-उत्तराखण्ड भारती—जनवरी 1973.

डुग्गर का मूर्ति शिल्प

☐ नरसिंह देव जम्वाल

किसी भी क्षेत्र में बसने वालों की संस्कृति जितनी सम्पन्न तथा सुदृढ़ होगी, उसमें पनपने वाले साहित्य तथा कला का भंडार भी उतना ही समृद्ध होगा। इस दृष्टि से भारत के अन्य प्रदेशों की भांति डुग्गर भी एक विशिष्टता लिये हुये हैं। यहां की चित्रकला, पहाड़ी कलम पूरे विश्व में प्रतिष्ठित हो चुकी है। इस कलम के मुख्य क्षेत्र बसोहली, कांगड़ा, गुलेर (वर्तमान हिमाचल प्रदेश) जम्मू और पुंछ रहे हैं।

वास्तुकला तथा मूर्तिकला दोनों का परस्पर गहरा संबंध है। भवनों की साज-सज्जा हेतु मूर्ति कला सामने आई इसलिये दोनों कलाएं लगभग एक साथ ही देखने को मिलती हैं परन्तु डुग्गर प्रदेश में कितने ही ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जहां छोटी बड़ी पहाड़ियों, जंगलों तथा इनकी गोद में बिखरे समतल स्थानों में मूर्तिकला के नमूने देखने को मिलते हैं। किसी पेड़ के तने के इर्द-गिर्द, किसी पहाड़ या जंगल की गोद में उपलब्ध छोटी सी समतल भूमि पर दो चार जमा किये चौरस पत्थरों पर, किसी नदी नाले के तट के साथ-साथ दा बरसाती नालों के बीचों-बीच इससे सामना हो जाता है।

इसमें ऐतिहासिक महत्व की कलाकृतियां भी मिलती हैं जैसे बसोहली में, रावी नदी के किनारे एक गुफा की दीवार पर खुदाई करके बनाई गई 'विश्वकर्मा' के छः फुट दो इंच मूर्ति, या कटड़ा (वैष्णो देवी) तथा पैंथल गांव के बीच किसी भी छोटे से निश्चित परन्तु खाली स्थान पर विराजमान, लोक शैली में बनाए गये "भीम देवता" की मूर्ति, या फिर एक दम अब्सटरेक्ट फार्म (तिगूढ़) में, जैसे बिलावर के पास भीनी नाला के उस पार गुरनाल नामक गांव में एक प्राचीन मन्दिर में स्थापित चट्टान जिसे "विंध्य वासिनी" का प्रतीक

मान कर पूजा जाता है। इस जगह देहरी, शिवालय तथा बावड़ियों को शामिल नहीं किया गया है क्योंकि इनमें भवन निर्माण का अंश भी मिलता है। इन सभी तथ्यों को सामने रखकर यह बात कही जा सकती है कि इस सारे क्षेत्र में उपलब्ध मूर्तिकला को, यहां की चित्रकला की भांति किसी एक शिल्प या शैली का नाम नहीं दिया जा सका।

समय-समय पर इस क्षेत्र में कभी सामयिक तथा कभी स्थायी रूप में स्थानीय अथवा राजनैतिक परिवर्तन होते रहे हैं। जैसे जम्मू की राजधानी कभी जम्मू तो कभी बब्बापुर (वर्तमान बबोर) और फिर जम्मू बदलती रही है। इस क्षेत्र के कुछ भागों में कभी एक शासक रहा तो कभी दूसरे ने अपना राज्य स्थापित किया। जैसे एक ज़माना था जब बसोहली, बिलावर भद्रवाह आदि क्षेत्रों का सम्बंध चम्बा राज्य से था। बाद में एक-एक करके इन्हें जम्मू राज्य में शामिल कर लिया गया। यही बात किशतवाड़, रियासी, राजौरी तथा पुन्छ के सम्बंध में भी कही जा सकती है।

भारत के दूसरे प्रदेशों पर किये जाने वाले भीतरी तथा बाहरी आक्रमण, लूटमार, उथल-पुथल आदि से परेशान व्यापारियों, बुद्धिजीवियों, कलाकारों ने शिवालिक की पहाड़ियों में आकर शरण ली। छोटी-छोटी घाटियों के इस प्रदेश में, यहां के वीर तथा पराक्रमी राजाओं और इस क्षेत्र के वासियों के बीच उन्होंने दूसरे प्रदेशों की तुलना में अपने को अधिक सुरक्षित महसूस किया।

एक प्रकार इस क्षेत्र पर हुए देशीय, पठानों तथा मुग़लों के प्रभाव को भली भांति देखा जा सकता है। यों लगता है कि इस क्षेत्र में यह प्रभाव केवल वास्तुकला तक ही सीमित है। जैसे पठान काल में बना महौर गढ़ का दुर्ग या पुन्छ के राजमहल। मुग़ल काल के महल, मस्जिदें विश्राम गृह, ज़ियारतें तथा सिक्ख काल के गुरुद्वारे, धर्मशाला आदि। अंग्रेज़ी वास्तुकला का भी थोड़ा बहुत प्रभाव कहीं-कहीं मिलता है। पुन्छ के राज महल एक साथ पठान, मुग़ल तथा अंग्रेज़ी वास्तुकला को आत्मसात किये हुये हैं।

किन्तु यही बात मूर्तिकला के सम्बंध में नहीं कही जा सकती है। इस का एक मुख्य कारण यह भी था कि मुग़लों या सिक्खों को मूर्तिकला में जो अधिकतर धार्मिक आस्थाओं की प्रतीक थी, कोई रुचि नहीं थी। पश्चिमी मूर्तिकला शैली की झलक भी स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात ही मिलती है इसका प्रभाव इस क्षेत्र पर कब और कैसे हुआ इस की चर्चा हम आगे करेंगे।

शायद यही वे तथ्य थे जिन्हें आधार मान कर कुछ शोधकर्ताओं ने डुग्गर प्रदेश की वास्तु तथा मूर्तिकला को मुख्यतः चार भागों में बांटा है :—

(क) आठवीं-ग्याहरवीं सदी : इसमें बबौर बिलावर तथा किरमची के मन्दिर इण्डो-एरियन शैली के माने जाते हैं। आठवीं सदी के अम्बारां (अखनूर) से प्राप्त सिक्के गांधार शैली के हैं। इसी शताब्दी में राजौरी, पुन्छ में उपलब्ध, मध्यकालीन जैसे प्रतिहार या गुप्त काल के कुछ और वंशजों द्वारा सृजित नमूने किन्तु आगे चल कर इन में से किसी का भी विकास हुआ दिखाई नहीं देता है। (ख तथा ग) इन दोनों भागों में जिसे मूर्तिकला के इतिहास में बीच का भाग भी कह सकते हैं पठान; मुग़ल तथा सिख काल रहा है। जिसमें मूर्तिकला उपेक्षित मिलती है (ङ) यह चौथा भाग जो 19वीं शताब्दी के मध्य से आरंभ होता है, इसमें वास्तु तथा मूर्तिकला दोनों ही खूब फली-फूलीं। सच तो यह है कि यही वह समय था, जब इस पूरे क्षेत्र पर डोगरों का शासन रहा, और इन दोनों कलाओं के लिये यह स्वर्ण युग था। इस काल में अनगिनत मन्दिरों, भवनों, धर्मशालाओं, समाधियों तथा बावड़ियों आदि का निर्माण हुआ और उनकी सज-धज तथा आवश्यकता अनुसार नाना प्रकार की देवी देवताओं को मूर्तियां बनवाई गईं। द्वार सज्जा के लिये बेल-बूटे तथा फलों के आकार ही नहीं, और भी कई प्रकार की उगती हुई उभार दर्शाती अनेक आकृतियां देखने को मिलती हैं जिन्हें आज हम रिलीफ (Relief) कह कर जानते पुकारते हैं। यदि गौर से देखें तो डुग्गर प्रदेश के लोक कलाकारों (शिल्पियों) ने अधिकतर यहा काम किया है जबकि संगमरमर की देव-मूर्तियां मथुरा तथा राजस्थान के शिल्पियों की देन हैं। यह सिलसिला आज भी जारी है। रघुनाथ मन्दिर जम्मू में स्थापित की जाने वाली 'नटराज' की प्रतिमा या सिंह वाहिनी दुर्गा की सफेद संगमरमर की मूर्ति 'धर्मराज' तथा 'चित्रगुप्त' की प्रतिभाए जुलाहका मुहल्ला के एक मन्दिर में स्थापित की गई हैं।

वास्तव में इस क्षेत्र में वास्तुकला तथा मूर्तिकला के फुटकर प्रयास अवश्य होते रहे हैं जो आज भी जारी हैं। किन्तु इतिहास के चौखटे में वैज्ञानिक कसौटी को आधार बना इनके आरंभ तथा विकास की कड़ियों को जोड़ते हुए, डुग्गर की मूर्तिकला के विषय में कोई ठोस कार्य नहीं हो पाया है। आज भी हम मात्र यह कह कर संतुष्ट हो जाते हैं कि उपलब्ध मूर्तियों की शैली तथा सामग्री को लेकर निश्चित कुछ नहीं कहा जा सकता। ऐसे कई उदाहरण जैसे सरथल में अष्ट-भुजी देवी की मूर्ति, घग्वाल स्थित नरसिंह मन्दिर में स्थापित मूर्ति या गूल (गुलाब गढ़) के इलाके में खुली बिखरी घुड़सवारों की मूर्तियां आदि। फिर भी आज तक जो थोड़ी बहुत परख-पड़ताल इस दिशा में हो पाई है उनके विषय में कुछेक तथ्य हमारे सामने अवश्य आए हैं।

इस क्षेत्र के रहने वालों में शुरू से ही मूर्तिकला में रुचि रही है

और उन्होंने इसी क्षेत्र में उपलब्ध सामग्री का खूब प्रयोग किया है जैसे जंगली काष्ठ या ऐसी ही टिकाऊ लकड़ी के आस-पास मिलने वाला काला पत्थर (ग्रेनाइट), या सफेद कणाश्म पत्थर और रेतीला पत्थर (सैंड स्टोन) आदि। जहां तक संगमरमर की मूर्तियों का प्रश्न है वह न तो बहुत पुरानी ही लगती हैं, और न ही उनका सृजन स्थानीय कलाकारों द्वारा किया गया प्रतीत होता है।

इस क्षेत्र में मूर्तिकला का आरंभ प्रमाणित करने में सबसे पुराने नमूने जो सामने आते हैं, वह आठवीं शताब्दी के हैं और पुरातत्व विभाग द्वारा, अम्बारां (अखनूर) से खुदाई करके निकाले गये हैं किन्तु यदि उपलब्ध लोक शैली की मूर्तिकला को सामने रखें तो देव वंश (8वीं-9वीं सदी) जिसके उत्तराधिकारी आज तक के डोगरा राजा रहे हैं से काफी पूर्व, यह कला यहां अवश्य थी। इसका ऐतिहासिक प्रमाण शुद्ध महादेव (चनैहनी) वर्तमान एक देवस्थान पर स्थापित विशाल आकार लोहे के एक त्रिशूल से मिलता है जिस पर अंकित ब्राह्मी लिपि इसका निर्माण काल तीसरी-चौथी शताब्दी तक ले जाती है। अनुमान लगाया जाता है यह त्रिशूल किसी स्थापना के अवसर पर ही यहां लाया गया होगा, परन्तु इससे यह भी सिद्ध होता है कि उस समय यहां अवश्य ही कोई देवस्थान बनाया गया होगा। यही धारणा छोटे बड़े जंगलों में उपलब्ध खाली स्थानों पर रखे गये 'भीम देवता' की प्रतिमाओं से भी पुष्ट होती है और जगह-जगह बनवाई गई बावड़ियों पर तराश कर लगाए गये पत्थरों से भी सिद्ध होती है जिन पर उभरी हुई आकृतियां पाई गई हैं या जहां से पानी बावड़ी में गिरता है वहां लगाए गये पत्थर के सिंह-मुख या अन्य कोई आकृति। देहरियों (बहुत छोटा केवल एक आध पत्थर के लिये मन्दिर जैसा उपयुक्त स्थान) में रखे गये, परिवार के महान सत्पुरुषों तथा नारियों के चित्रों (रिलीफ वर्क) से भी इस बात का कोई द्योतन नहीं कि कौन सा पत्थर कब तराशा गया था या किसने इस पर यह आकृति बनायी थी, और कब लुप्त हो गयी। कब उसके स्थान पर किसी नये पत्थर को तराश कर रखा गया। ठीक लोक-साहित्य की तरह यह कला भी पीढ़ी दर पीढ़ी चलती हम तक पहुंची और निरन्तर अग्रसर हो रही है निःसंदेह इस पर कोई बाहरी प्रभाव नहीं है। यह पूर्ण रूप से लोक कला या डुग्गर प्रदेश की परम्परागत लोक कला मानी जा सकती है।

इस क्षेत्र की मूर्तिकला पर दृष्टिपात करते ही जो तीसरा तथ्य हमारे सामने आता है उसे बाहरी प्रभाव ही कहना उचित रहेगा। यह प्रभाव दो प्रकार का है।

(क) यह कला उन शिल्पियों या मूर्तिकारों की देन है जो किन्ही कारणों से यहां आए, और कार्यरत रहकर या वापस लौट गये या इस कला को सदा के लिये

त्यागकर दूसरे धन्धों में जुट गये। जैसे किरमची, बबौर तथा बिलावर के हरि-हर मन्दिर में जो भी शेष रह गया मात्र वही अब देखने को मिलता है, पूरे डुग्गर क्षेत्र में इसका और कहीं भी कोई अवशेष या विकास चिन्ह नहीं मिलता है। यही भद्रवाह और गाठा तथा नालठी के आसपास, चम्बा के राजा चढ़तसिंह द्वारा बनवाई गई 5-6 वासुकी नाग की मूर्तियों के संदर्भ में भी कहा जा सकता है। इन मूर्तियों का निर्माण काल लगभग डेढ़ सौ वर्ष पुराना ही है। एक शोधकर्त्ता अनुसार इनके रचनाकार का नाम पं० बंसीराम है जिन्होंने चम्बा के वासुकी नाग मन्दिर के लिये भी एक दो मूर्तियां बनाई थीं। वैसे तो कहा जाता है कि पं० बस्तीराम के वंशज आज भी भद्रवाह में ही बसते हैं, परन्तु उन्होंने इस कला को और आगे बढ़ाया हो इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता।

(ख) इस बाहरी प्रभाव का दूसरा रूप वह कहा जा सकता है जो यहां के कलाकारों-शिल्पियों ने ग्रहण किया जिनका विकसित रूप आज भी कई स्थानों पर देखा जा सकता है। वास्तुकला के नाम पर इसका एक अति सुन्दर उदाहरण पुन्छ का राज महल है, जिसके सम्बन्ध में पहले भी चर्चा की गई है। जबकि मूर्तिकला के नाम पर बावड़ियों तथा छोटे मोटे देवस्थानों की ओर ध्यान जाता है जहां इस कला की झलक मिलती है। यहां लोक कला जैसे सरल नाग कुंडली या अष्टकोण फूल आदि के साथ-साथ अनेक मुद्राओं में देवी-देवताओं की आकृतियां भी मिलती हैं। इस कथन को और भी स्पष्ट करें तो अम्बारां से मिली वह विचित्र विष्णु की मूर्ति सामने आती है जिसके तीन मुख तथा चार भुजाएं हैं (बाकी दो मुख नरसिंह तथा वराह अवतारों के हैं)। इसी प्रकार बबौर के एक पुराने मन्दिर के द्वार पर लगी मकर-वाहिनी गंगा की मूर्ति अथवा गणेश या भैरव की मूर्तियां। इसी किस्म का रिलीफ वर्क चनैहनी कस्बा की मुख्य बावड़ी पर लगे पत्थरों पर बनी डेढ़ दर्जन मूर्तियों में भी देखने को मिलता है। मूर्तिकला के इस बाहरी प्रभाव को यहां के स्थानीय कलाकारों ने सुचारू रूप से मूर्त्त किया है।

(ग) अन्तिम तथ्य है बीसवीं शताब्दी के मध्य, अर्थात् स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् की मूर्तिकला। यह पिछली सभी परम्पराओं से हटकर आधुनिक प्रयोगों से प्रभावित परन्तु देश-विदेशों के साथ कदम मिलाती, एक अलग प्रकार की मूर्तिकला है इस कला के काफी नमूने जम्मू-कश्मीर कल्चरल अकादमी में आने-जाने वालों के लिये विशेष आकर्षण हैं। इन कलाकृतियों के रचनाकार भारत के सुप्रसिद्ध मूर्तिकार भी हैं और डुग्गर क्षेत्र के उभरते कलाकार भी। इन कला कृतियों को देखकर मन में कई विचार हिलोरें लेने लगते हैं। जैसे, आज की यह मूर्तिकला, इस प्रदेश की लोक कला तथा भारतीय परम्परागत मूर्तिकला से एकदम हटकर पश्चिमी प्रभावों से ओत-प्रोत होकर सामने आई है। अधिकतर मूर्तियां अमूर्त्त (Abstract Form) हैं जिन्हें

रचनाकार स्वयं कोई नाम रखने या उसके बारे में प्रश्नकर्त्ता को बताने में कई प्रकार की शब्दावली प्रयोग में लाता है फिर भी इस मूर्तिकला का एक अपना महत्व है, इसके साथ ही डुग्गर प्रदेश में मूर्तिकला का तीसरा चरण शुरू होता है ।

आज मूर्तिकार किसी एक शैली विशेष के घेरे से मुक्त लगते हैं । मूर्तिकला के नये-पुराने शिल्प और नियमों के ज्ञाता हैं । देश तथा विदेश की ओर नित नये हो रहे प्रयोग भी उनकी नजर से ओझल नहीं हैं । क्योंकि आज धरती की वह विशालता जो कभी, गांधार, गुप्त या प्रतिहार आदि शैलियों के युग में रही होगी विद्युत तथा छपाई के माध्यमों के कारण काफी सिकुड़ गई है । इस लिए अपनी ही चारदीवारी में बन्द रहने की बजाए भारत तथा विश्व के मूर्तिकारों से कदम मिलाकर चलने में ही औचित्य है । महत्वपूर्ण बात केवल यह है कि इतने बड़े अखाड़े में आपकी अपनी पहचान कैसे बनी रहे ?

यह तभी संभव है यदि डुग्गर प्रदेश के आज के मूर्तिकार अपनी धरती की खुशबू तथा सौंदर्य लेकर, लोक संस्कृति तथा परम्पराओं की बगिया में बैठकर अपनी जागरूकता तथा आधुनिक शिक्षा-मूल्यों की छाया तले ऐसी कला कृतियों को जन्म दें जिससे इस क्षेत्र की मूर्तिकला को भी वही प्रतिष्ठा प्राप्त हो सके जो पहाड़ी चित्रकला ने पाया है । लगता है, धीरे-धीरे यह कलाकार इस सच्चाई को समझने लगे हैं आधार जित्तो (कटड़ा-रियासी मार्ग पर) में सीमेन्ट से बनाई गई बावा जित्तो तथा बुआ कौड़ी की विशाल मूर्ति, जिसका सृजन, डुग्गर प्रदेश में इस तीसरे युग के प्रथम शिल्पी श्री विद्यारत्न खजूरिया के हाथों हुआ । ऐसे ही एक और प्रातिभ युवा कलाकार द्वारा निर्मित डोगरा हाल जम्मू के प्रवेश पर स्थापित पं० प्रेमनाथ डोगरा और इसी कलाकार की जोरावर स्टेडियम (फौज द्वारा निर्माण किया गया खेलकूद का मैदान) के लिये बनाई गई वज़ीर जोरावर सिंह की (Bust), बाग-ए-बाहु में प्रदर्शित कुछ नमूने तथा अभिनव थियेटर के लॉन में लगी कुछेक कलाकृतियों के द्वारा इस प्रदेश के मूर्तिकारों ने डुग्गर परम्पराओं की मामूली ही सही किन्तु झलक लाने का प्रयत्न अवश्य किया है ।

मूर्तिकला से सम्बन्धित यह चर्चा शायद अधूरी रह जाएगी (यदि इसमें धातु में ढली मूर्तियों के बारे में नहीं कहा जाए तो । इस प्रदेश में पत्थर की मूर्तियों की तुलना में इसकी संख्या बहुत कम है या नहीं के बराबर है । बिलावर के नजदीक सुकराला देवी के मन्दिर में स्थापित मल्ल-देवी की मूर्ति, सूई सिम्बली (जम्मू) के मन्दिर में सीता और राम की मूर्तियां, चनैहनी बाजार के मन्दिर में महाकाली की मूर्ति, इत्यादि केवल इन गिनी चुनी कृतियों पर कुछ

भी स्पष्ट कह पाना कठिन है। यह मूर्तियां समय-समय पर बाहर से लाई गईं या यहां के अपने कलाकारों ने बनाईं या बाहर के शिल्पियों ने यहां आकर ढालीं इसका कोई प्रमाण नहीं है। पिछले कुछ वर्षों में नटराज की मूर्ति (रघुनाथ मन्दिर में) पं० प्रेमनाथ डोगरा तथा महाराजा रणवीर सिंह की पूरे आकार की मूर्तियां बाहर के कलाकारों से बनवाईं गयीं और प्रदर्शनी स्थल (Exhibition Ground) तथा रणवीरेश्वर मन्दिर जम्मू में स्थापित की गई हैं। यहां के मूर्तिकारों ने अभी इस तरफ कोई रुचि नहीं ली है जिसके कई कारण हो सकते हैं। घरेलू पूजा चौकियों तथा सजावट हेतु रखी जाने वाली छोटी-छोटी मूर्तियां भी उत्तर प्रदेश तथा राजस्थान वगैरा से ही आती हैं। इतना अवश्य है कि यहां के सुनार, यहां के लोगों की इच्छा अनुसार, चांदी या कांसे की पत्तरी पर उकेरी हुई परम्परागत आकृतियां जैसे गणेश, वैष्णों, महाकाली, भैरोंबली, सूर्य, चन्द्रमा आदि आज भी बनाते दिखाई देते हैं। परन्तु यह कला इतनी सीमित तथा अप्रचारित है कि घर की चारदीवारी या किसी के गले में लटकने से हटकर इसके दर्शन दुर्लभ ही हैं। □

डुग्गर की शिलालेख-उपलब्धियां

□ शिव 'निर्मोही'

डुग्गर में उपलब्ध शिलालेखों तथा अभिलेखों को लिपि के आधार पर निम्न भागों में बांटा जा सकता है :—

ब्राह्मी लिपि के शिलालेख।

खरोष्ठी लिपि के शिलालेख।

शारदा लिपि के शिलालेख।

टाकरी एवं डोगरी लिपि के शिलालेख।

देवनागरी लिपि के शिलालेख।

अज्ञात एवं अन्य लिपियों के शिलालेख।

ब्राह्मी लिपि के शिलालेख

ईसा की पांचवी तथा चौथी शताब्दी के पूर्व से लेकर ईसा की चौथी शताब्दी तक भारत के शिलालेखों में जिस लिपि का प्रयोग किया गया है विद्वानों ने उसे ब्राह्मी की संज्ञा दी है। बाद में ब्राह्मी लिपि में भी अत्याधिक परिवर्तन हुआ और इस का विकास भी विभिन्न क्षेत्रों में, विभिन्न दिशाओं में हुआ अतः मूल ब्राह्मी लिपि से विकसित लिपियों का नामकरण क्षेत्रों के आधार पर किया गया यथा उत्तर पश्चिमी ब्राह्मी, उत्तरी ब्राह्मी, पूर्वी ब्राह्मी, दक्षिणी ब्राह्मी इत्यादि। डुग्गर में ब्राह्मी लिपि में शिलालेख उपलब्ध हैं उनका सम्बन्ध उत्तरी ब्राह्मी से माना गया है। भारत में कालसी, दिल्ली, मथुरा, तोसाम इत्यादि स्थानों पर ब्राह्मी के शिलालेख उपलब्ध हैं किन्तु डुग्गर में ये शिलालेख पथयार, कान्हयारा तथा बछल नामक स्थानों में ही उपलब्ध हैं। डॉ० भूषण कुमार डम्बी के मतानुसार पथयार का शिलालेख तीसरी शताब्दी ई० पू० का है। पथियार जिला कांगड़ा के अन्तर्गत एक गांव है। यहां चट्टान पर उत्कीर्ण एक शिलालेख

दूसरी या पहली शताब्दी का कहा गया है। कान्हयारा भी जिला कांगड़ा का ही एक गांव है। दूसरी सदी ई० पू० का एक अन्य शिलालेख जम्मू क्षेत्र में 'बछल' स्थान पर एक गुफा के भीतर दीवार पर उत्कीर्ण है।

जम्मू क्षेत्र में ही शुद्ध महादेव नामक स्थान पर एक भग्न त्रिशूल में उत्कीर्ण एक अभिलेख भी उपलब्ध है। इस अभिलेख की लिपि भी ब्राह्मी है। इस अभिलेख को पढ़ने का श्रेय चंडीगढ़ विश्व विद्यालय के प्रो० जगन्नाथ अग्रवाल को प्राप्त है। यह अभिलेख तीन पंक्तियों पर आधारित है। इस अभिलेख के कई अक्षर मिट भी चुके हैं किन्तु जो पढ़े जा सके हैं उनका देवनागरी रूप इस प्रकार है :—

प्रथम पंक्ति—सिद्धम् स्वराज्य संवत्सरे पंच...ल...सज

द्वितीय पंक्ति—विभुनागस्य पुत्रेरणा...पतिना लोक

तृतीय पंक्ति—गच्छन्ति ये तु क्षयं......।

विद्वान प्रो० जगन्नाथ अग्रवाल ने इन पंक्तियों का अर्थ यह दिया है—अपने राज्य काल के पांचवें वर्ष में महाराजा विभुनाग के पुत्र ने जग कल्याणार्थ......।

इतिहास का अनुशीलन करने से पता चलता है कि पूर्वी पंजाब में भारशिव नागवंश के राजाओं ने दूसरी और तीसरी सदी में राज्य किया है। सम्भव है यह क्षेत्र भी उन दिनों उनके राज्य के अन्तर्गत हो और यह अभिलेख भी उन्हीं राजाओं में से किसी एक से सम्बन्धित हो। वैसे भवनाग नामक राजा का उल्लेख मिलता है जिसने 290 से लेकर 315 ई० तक राज्य किया। यह अभिलेख भी विद्वानों के अनुसार दूसरी या तीसरी शताब्दी का है।

ब्राह्मी लिपि में कुछ अभिलेख जिला चम्बा के भरमौर तथा छत्राड़ी नामक स्थानों में मूर्तियों में भी अंकित हैं जिन में राजा मेरुवर्मा का नाम उल्लिखित है। राजा मेरुवर्मा का समय आठवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जाता है। बुड्ढे अमरनाथ मंडी पुंछ में भी एक शिलालेख शिलापट्टिका पर उत्कीर्ण है जिसकी लिपि खुशदेव मैनी के मतानुसार ब्राह्मी है।

खरोष्ठी लिपि का शिलालेख

डुग्गर क्षेत्र में खरोष्ठी लिपि में अभी तक एक ही शिलालेख उपलब्ध है। यह शिलालेख डोगरा आर्ट गैलरी जम्मू में सुरक्षित है। यह शिलालेख अंबारायन स्थान से उपलब्ध हुआ है। अम्बारायन तहसील अखनूर के अन्तर्गत चन्द्रभागा नदी के तट पर बसा एक प्राचीन गांव है। कहा जाता है कि किसी समय यहां एक बौद्ध-बिहार था। पाली भाषा का यह शिलालेख भी इसी मत की पुष्टि करता है। वह शिलालेख फ़ारसी लिपि की भांति दायें से बायीं ओर है और

इसमें सब से बड़ी विशेषता यह है कि इसमें एक चित्र भी अंकित है जो इस बात का प्रमाण सिद्ध होता है कि इस क्षेत्र विशेष में चित्र लिपि का प्रचलन भी रहा है। यह शिलालेख एक गोल पत्थर पर उत्कीर्ण है।

शारदा लिपि के शिलालेख

शारदा लिपि का विकास उत्तर पश्चिमी ब्राह्मी से माना जाता है। यह कश्मीर की प्रमुख लिपि रही है। कश्मीर का संस्कृत साहित्य इसी लिपि में लिखा गया है। कश्मीर के अतिरिक्त गन्धार, लद्दाख, जम्मू, हिमाचल प्रदेश, पंजाब और हरियाणा में भी इसका व्यवहार हुआ है। डा० भूषण कुमार डम्बी के अनुसार शारदा का सर्व प्रथम शिलालेख हुण्ड (पाकिस्तान) से उपलब्ध हुआ जिसकी तिथि 774-75 ई० है। कश्मीर से प्राप्त शारदा शिलालेखों की संख्या 34 बताई गई है। जम्मू क्षेत्र में भी शारदा लिपि में कई शिलालेख उपलब्ध हैं किन्तु विद्वानों की दृष्टि में अभी छः ही शिलालेख आये हैं जिनमें पांच दछन, वडवन, भद्रवाह और किश्तवाड़ में हैं और एक बबौर के प्राचीन देवी मन्दिर में संस्थापित है।

किश्तवाड़ के अन्तर्गत दछन में शारदा लिपि में उपलब्ध शिलालेख चार पंक्तियों पर आधारित हैं। इस शिलालेख का रचनाकाल 1036 ई० है। इस शिलालेख में महिम गुप्त द्वारा सेतु निर्माण की बात लिखी है। इस शिलालेख में राजा अनन्तदेव का उल्लेख भी है जिसका समय 1028 ई० से 1063 ई० है।

ज़िला डोडा के अन्तर्गत वाडवा के निकट झांझी ने नामक स्थान पर भी एक शिलालेख उपलब्ध है। विद्वानों ने इस शिलालेख को पढ़ लिया है। इस शिलालेख का देवनागरी रूपान्तरण इस प्रकार है :—

अशु पद्म प्रतिष्ठिता पितम् अशु गुरक्ष

इस शिलालेख का रचनाकाल सन् 1420 ई० बताया जाता है। बबौर के प्राचीन देवी मन्दिर में संस्थापित शिलालेख के अधिकांश अक्षर मिट चुके हैं। अतः इसे पढ़ा नहीं जा सका है। प्रो० गौरी शंकर के मतानुसार इस शिलालेख का रचनाकाल बारहवीं शताब्दी है। राज तरंगिणी में (बब्बा पुर) के तीन राजाओं यथाक्रम कीर्तिधर, वज्रधर तथा उमाधर का उल्लेख कश्मीर के राजाओं यथा कलश, सुस्सल और हर्ष के साथ यथाक्रम 1087, 1114-18, 1101 ई० में हुआ है। सम्भव है इन्हीं राजाओं ने इन मन्दिरों का निर्माण किया हो और शिलालेख स्थापित किया हो। शेष शिलालेखों के अक्षर मिट चुके हैं अतः इन्हें पढ़ना अब सम्भव नहीं लगता।

जम्मू क्षेत्र में ही कठुआ के निकट नगरी परोल में भी एक शिलालेख

उपलब्ध है जिसकी लिपि शारदा ही कही जाती है। यह शिलालेख तीन पंक्तियों पर आधारित है। इसके कुछेक अक्षर मिट भी चुके हैं। अभी तक विद्वानों द्वारा इस शिलालेख का अनुशीलन नहीं किया गया है। भड्डू के निकट सुन्दरीकोट में भी सुन्दरी देवी मन्दिर में एक छत्र में भी एक अभिलेख अंकित है किन्तु यह छत्र अब महात्मा पूर्णागिरि के पास सुरक्षित है। इस अभिलेख की लिपि शारदा बताई जाती है।

कांगड़ा क्षेत्र में शारदा लिपि में तीन शिलालेख मिलते हैं। एक शिलालेख कांगड़ा में देवी मन्दिर में सुरक्षित हैं और अन्य दो शिलालेख बैजनाथ मन्दिर में सुरक्षित हैं। बैजनाथ के शिलालेख विवरणात्मक हैं। डोगरी संस्था जम्मू द्वारा प्रकाशित अभिनन्दन ग्रंथ में दोनों शिलालेखों का राहुल सांस्कृत्यायन द्वारा किया गया देवनागरी लिपि का रूपान्तरण उपलब्ध है। बैजनाथ के प्रथम शिलालेख में 39 श्लोक हैं। प्रथम उन्नीस श्लोकों में गौरीश की स्तुति है। बीसवें श्लोक में राजा लक्ष्मण चन्द्र का उल्लेख और 24, 25 तथा 26वें श्लोक में राजा की स्तुति है। श्लोक 27 तथा 28 में इस मन्दिर के निर्माता मन्युक तथा आहुक का उल्लेख है। शिलालेख में सुशर्मपुर के रल्हण, गणेस्सर, जीवक आदि के नामों का भी उल्लेख है। इन्होंने मन्दिर के लिए भूमि दान किया। शिलालेख में मन्दिर के वास्तुकार का नाम 'ढाढ्ढक' उल्लिखित है। शिलालेख के लेखक का नाम कविराम वर्णित है। शिलालेख का रचनाकाल सन् 804 ई० है।

इसी प्रकार बैजनाथ मन्दिर के दूसरे शिलालेख में 37 श्लोक हैं। पहले पांच श्लोकों में शंकर वंदना तथा छठे श्लोक में तत्कालीन राजा जय चन्द्र की स्तुति है। सातवें तथा आठवें श्लोक में मन्युक तथा आहुक की प्रशंसा की गई है। इस शिलालेख में कीर गांव का भी उल्लेख है यहां यह मन्दिर स्थापित है। शिलालेख में कीर गांव के सामंत लक्ष्मण तथा उसके पूर्वजों का उल्लेख भी किया गया है। शिलालेख के अन्त में लेखक ने अपना परिचय दिया है। कहा जाता है कि लेखक युवावस्था में ही कश्मीर से बैजनाथ आ गया था। इस प्रशस्ति का रचनाकाल 726 शक सम्वत् अर्थात् ई० सन् 804 है।

शारदा लिपि में सबसे अधिक शिलालेख चम्बा जन पद से प्राप्त हुए हैं। डॉ० डम्बी के अनुसार इन की संख्या 36 है। ये सभी शिलालेख सुरक्षित हैं। इन शिलालेखों में मुख्य विशेषता यह है कि ये विवरणात्मक हैं और इन में काव्यमयी भाषा का प्रयोग हुआ है। चम्बा जनपद से प्राप्त अभिलेखों में पांच दानपात्र भी हैं जो स्थानीय इतिहास एवं संस्कृति पर विशेष प्रकाश डालते हैं।

टाकरी तथा डोगरी लिपि के शिलालेख

जिस प्रकार उत्तर पश्चिमी ब्राह्मी से शारदा लिपि का विकास हुआ ठीक

वैसे ही शारदा लिपि से टाकरी, गुरुमुखी और डोगरी आदि लिपियों का विकास हुआ । कई विद्वानों का यह भी अभिमत है कि शारदा और टाकरी का विकास साथ-साथ ही हुआ है । टाकरी लिपि के सबसे प्राचीन शिलालेख चम्बा जनपद के अन्तर्गत चूड़ा तथा साई नामक स्थानों से प्राप्त हुए हैं । इनका रचनाकाल 1168-69 ई० बताया जाता है । टाकरी लिपि का प्रयोग चम्बा नरेश भोर वर्मन के चार पट्टों में भी मिलता है जिसका समय चौदहवीं शताब्दी बताया जाता है । जम्मू क्षेत्र में टाकरी लिपि के प्राचीन शिलालेख अम्बारायन तथा उत्तर वाहिनी स्थानों से उपलब्ध हैं । अम्बारायन गाम में एक पुराने पीपल के वृक्ष के नीचे दो शिलालेख आज भी दर्शनीय हैं । इन दोनों शिलालेखों के अक्षर धीरे-धीरे मिटते जा रहे हैं । एक शिलालेख के अक्षर तो पूर्णरूपेण मिट ही चुके हैं । स्थानीय लोगों के अनुसार ये शिलालेख बामनराय के समय के हैं जिस ने आज से 988 वर्ष पूर्व कुलदेवी अम्बा के नाम पर अम्बारायन राज्य की स्थापना की थी ।

अम्बारायन स्थान से ही आज से पचास वर्ष पूर्व एक और शिलालेख भी उपलब्ध हुआ था जो आज कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं है । किन्तु उस शिलालेख की फोटो कापी प्रो० राम नाथ शास्त्री के पास सुरक्षित है । इस शिलालेख को श्री धर्म चन्द प्रशान्त ने आठ सौ वर्ष प्राचीन तथा स्व० केदार नाथ शास्त्री जी ने चार सौ वर्ष पुराना माना है । इस शिलालेख की लिपि प्राचीन टाकरी बताई जाती है । किन्तु कई विद्वान अब भी इस शिलालेख की लिपि भी टाकरी बताई गई है । विद्वानों का कथन है कि इस में शिव मंत्र अंकित है । यह शिलालेख उत्तर वाहिनी स्थान से उपलब्ध हुआ है । उत्तर वाहिनी में देविका नदी के तट पर ही एक बहुत बड़े शिलापट्ट पर एक शिलालेख उत्कीर्ण था जो नदी में बाढ़ आने के कारण बह गया था । शुद्ध महादेव जाते समय मार्ग में विनिसंग नामक स्थान आता है । वहां भी चट्टान पर उत्कीर्ण एक शिलालेख अंकित है जिस की लिपि प्रो० रामनाथ शास्त्री जी के मतानुसार टाकरी डोगरी है । टाकरी डोगरी का ही एक शिलालेख बिलावर तहसील के के अन्तर्गत महानपुर गांव के जगदम्बा मन्दिर के मुख्य द्वार पर अंकित है जिसका रचनाकाल 1526 ई० है ।

टाकरी डोगरी में राजा रणजीतदेव, बृजराजदेव, जीत सिंह आदि के समय के शासकीय पट्टे भी प्राप्त हैं । जम्मू क्षेत्र में ही डोगरी लिपि में कई शिलालेख और अभिलेख उपलब्ध हो चुके हैं । उधमपुर में कामेश्वर मन्दिर में ही डोगरी लिपि के तीन शिलालेख प्राप्त हैं । इनमें एक शिलालेख मुख्य ड्योढ़ी के फर्श पर लगा है । इसमें मन्दिर का पुनरुद्धार करने वाले फ़कीरचन्द का नाम अंकित है । शिलालेख की तिथि वि० सम्वत् 1992 अंकित है ।

मनकोट जनपद में जिसे रामकोट नाम से अभिहित किया जाने लगा है, वहां भी मुख्य मन्दिर के निकट स्थित हनुमान की मूर्ति के दाबीं ओर एक शिलालेख है जिसकी लिपि भी टाकरी-डोगरी कही जाती है। शुद्ध महादेव में स्थित देवी मन्दिर के मुख्य द्वार पर जो शिलालेख अंकित है उसका रचनाकाल वि० सं० 1900 है। महाराजा गुलाबसिंह के समय के कुछ शिलालेख डुग्गर बावलियों में में भी अंकित है। डॉ० प्रियतम कृष्ण कौल ने भी भद्रवाह क्षेत्र से उपलब्ध टाकरी डोगरी के दो शिलालेखों का विवरण शीराज़ा डोगरी में प्रकाशित करवाया है जो अंक 100 में संकलित है। ये शिलालेख राजा चढ़त सिंह के समय के हैं जिसका शासनकाल वि० सम्वत् 1808 से 1844 माना जाता है।

देवनागरी लिपि में उपलब्ध शिलालेख

जम्मू क्षेत्र में देवनागरी लिपि में लिखे शिलालेख अठारहवीं शताब्दी के बाद ही प्राप्त होते हैं। इन शिलालेखों में तीन शिलालेख बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। ये तीनों शिला-लेख धार्मिक स्थलों से सम्बन्धित हैं किन्तु फिर भी स्थानीय सांस्कृतिक चेतना पर ये पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। एक शिलालेख पुरमण्डल तीर्थ स्थान में उमापति महादेव मन्दिर के बाहिर संस्थापित है जो इस प्रकार है :—

"ओं स्वस्ति श्री गणेशाय: नम:। श्री देविका जी का महात्म्य पद्म पुराण, महाभारत, विष्णु पुराणादि सकल पुराणों में प्रसिद्ध है। इस वास्ते श्री मन्महाराजाधिराज गुलाबसिंह जी ने परोपकार वास्ते 1169 विक्रमादित्य में इन्देश्वर से लेकर अष्टाधिक चतुर्दश सहस्र अति दृढ़तर मन्दिरों में शिवस्थापन का स्वनाम स्थापन किया।

शिवमस्तु सर्वजगताम् ओं तत्सम ब्राह्मणे नम:।

ओं नम: शिवाय:

ओं श्री रामाय नम:।"

इसी प्रकार का दूसरा शिलालेख उत्तरवाहिनी में श्री गदाधर जी के मन्दिर में है जिसकी शब्दावली इस प्रकार है :—

"ओं स्वस्ति श्री गणेशाय: नम: ओं श्रुति स्मृति इतिहास पुराणों में अत्यन्त पुण्यातमा देविका उसमें भी उतरवाहिनी देविका बहुत पुण्यतमा पितृकृत्य में गया क्षेत्र तुल्य है। इस देविका में श्री महाराजाधिराज जम्मू-काश्मीर तिब्बत, सिन्धु ते हिमालयोतर किन्नर वर्षान्त सफल बसुधा परिपालक दीनबन्धु दरिद्रभ सिंह महामण्डल महाराति मतभंसिह, ब्रह्मविद्याभ्यास संपादित सत्यलोक राजसिंह शत्रुशोषित पिच्छलाति निगमराशि दलित सनातन धर्मक्षेत्र भेदानेक

चतुर्वर्ग श्री मत गुलाबसिंह जी देव जी जगदुपकार वास्ते 1969 संवतसर में श्री गजाधर जी का मन्दिर भी उत्तरवाहिनी देविका में शोभित किया । अस उसकी द्वितीय परिधि में दशावतार मन्दिर शोभित करके मुक्त द्वार सदावर्त अन्नभिलाषियों वास्ते नियत करते भया"। देवनागरी लिपि में और हिन्दी भाषा में सबसे बड़ा और विवरणात्मक शिलालेख रघुनाथ मन्दिर जन्मू में संस्थापित है। इस शिलालेख की शब्दोवली इस प्रकार है :—

श्री रघुनामो जयति ।

सभ लोकों को विदित होने की सर्वशक्तिमान जगदीश्वर की दया से स्वस्ति श्री मन्महाराजधिराज इन्द्र महेन्द्र सियर सलतनत जनरल असाकर इंगलिशिया नसीर खास क़ैसर हिंद जी० सी० एस० आई० सी० आई० ई० जम्मू काश्मीर तिब्बतादि अनेक देशाधिपति प्रभुवर परम कारुणिक महाराज साहिब बहादुर श्री 108 रणवीर सिंह जी ने सम्पूर्ण लोकों के उपकार वास्ते अपने इष्टदेव श्री 108 रघुनाथ जी की मूर्ति का अपने राज्यभिषेकात संवत् और विक्रमादित्य संवत् 1915 में स्थापन किया और इस मन्दिर के साथ संकल्प करके ग्राम और नकद रुपया लगा कर अनेक प्रकार के धर्मार्थ का व्यवस्था कर दिया है जैसा ? पाठशाला वेद 4 और छः शास्त्र की सदावर्त अन्न पक्का तथा सुक्का ? गौ पालन ? जल पिलाना ? इमारत मन्दिर और जलाशय धर्मशाला की ? पूजा पंचायतन का ? वस्त्र भूषण ठाकुर जी के उत्सव ? पाठसह रजनाम ? राम नाम ? पुस्तकालय ? वस्त्र अभ्यागतों के वास्ते 1 कटोरी दान ? माला 1 छत्री ? जोड़ सालिग्राम ? शिव स्थापना ? आरोग्यशाला ? पुष्पतुलसी बिल्वपत्री पूजा वास्ते ? यज्ञोपवीत ? प्रति मास अमावस्या को पितृश्राद्ध करवाने ? इत्यादि अनेक प्रकार की धर्मार्थों की व्यवस्था है और उत्तरवाहिनी में भी इसी तरह की धमार्थों की व्यवस्था है उहां शिवजी जादे हैं परन्तु पुरमण्डल में देविका उमापति आगे प्रसिद्ध स्थान था उत्तरवाहिनी जिस जगह में भी देविका का प्रवाह उत्तराभिमुख बहती है इसी वास्ते इस का नाम उत्तरवाहिनी है । इस अत्युतम तीर्थ पुराणों से प्रमाण निकाल कर बड़े महाराज साहिब जी ने प्रसिद्ध किया सहस्त्रवतार मूर्ति और बहुत सालिग्राम मूर्ति सहित श्री गदाधर जी की मूर्ति और अभिमुक्तेश्वर महादेव अत्युत्तम के बीच पुराण प्रसिद्ध पंचकोश में यथास्थान मन्दिर बनवा कर शिवलिंग स्थापन किये हैं ।

इस स्थान को देखने से मालूम होता है एक दिन महाराज साहिब रणवीर सिंह जी ने देखा कि कलियुग का धर्म बंध जाता है और आर्य धर्म अति कठिन होने से घटता जाता है । इस वास्ते यदि अति कठिन बात सुगमता से होने लगे तो आर्य लोग अपने धर्म में क्यों पराङमुख होवें इस वास्ते विष्णु

शिव भक्ति से बिना कोई सुगम उपाय नहीं है । यह बात विचार कर श्री रघुनाथ जी के मन्दिर के परितः रामतापनी उपनिषद् प्रोक्त श्री रघूनाथ जी के परिवार देवता की मूर्ति और पंचायतन मूर्ति तथा अवतार-मूर्ति और बारा लक्ष सालिग्राम स्थापना का हुक्म दिया । तदन्तर अपने राज्यभिषेक से संवत् 22 पंचाजतन मूर्ति और रघुनाथ जी के परिवार देवता आदि की 140000 शालिग्राम । इनका स्थापन किया 105600 शालिग्राम इहां मंगवा रखे हैं तीन लक्ष और भी स्थापित हो चुके हैं । ईश्वर की दया थोड़े काल में बारा लक्ष शालिग्राम स्थापित हो जायेंगे तदनन्तर संवत् 1939 श्री रणवीरेश्वर महादेव बड़े नर्मदेश्वर 11 स्फटिक के 11 एक मास में मन्दिर तय्यार करके स्थापन किये और उत्तरवाहिनी 1100000 शिव जी और रघुनाथ जी की मूर्ति स्थापन का हुक्म दिया मन्दिर बनते हैं । शिवजी नर्मदेश्वर और रघुनाथ जी की मूर्ति इहां आगे है उत्तरवाहिनी वह स्थान है पुरमण्डल के पास तीन कोस पर जहां देविका नदी उत्तर को बहती है । एह स्थान श्री महाराजा साहिब बैकुण्ठवासी श्री गुलाब सिंह जी ने पुराणों में देख कर प्रसिद्ध किया और पुरमण्डल से लेकर इस स्थान तक अपूर्व देव स्थापन प्राणों से निश्चय करके पांच कोश के बीच देविका तट में निर्माण किये उस स्थान के देखने से सब मालूम होता है । अब देखो कि एक साल ग्राम पूजन का कितना महात्म है । 12 लक्ष के पूजन का जितना होवेगा जो कोई 12 लक्ष का एक बार पूजन करेगा उसको 33 सौ वर्ष का 33 जन्म तक प्रतिदिन एक-एक सालिग्राम पूजन का फल प्राप्त होगा और जो सात वार इनका पूजन करे । उसने 84 जोनि पूजन किया फेर जन्म में न आवेगा जो मास पूजन करे 3 कोटि 60 लक्ष का पूजन हो । उसने प्रतिरोज प्रत्येक का पूजन किया जो दो एकादशी को मास में पूजन करे उसे 66 सौ वर्ष तक प्रतिदिन एक-एक सालिग्राम पूजन का फल होगा और जो पुरुष दो वर्ष इनका पूजन करे तो 77 कोटि 76 सालिग्राम का पूजन होगा । उसने 100 वर्ष तक रोज 2 स्थान 2 में एक-एक सालिग्राम पूजन किया । इनके पूजन वास्ते वेदपाठी ब्राह्मण नियतवृती करके नियुक्त किये हैं और जिस किसी का पूजन आप करना अथवा करवाना होवे पूजन की सामग्री से इस जगह में मोल मिलती है । तीन आने की सामग्री से 12 हज़ार शालिग्राम का सांग-षोडशोपचार पूजन होता है। 12 लक्ष के सांग पूजन को 30 रुपये हैं अथवा जैसी किसी की श्रद्धा होवे वेसा पूजन करे । सामग्रा भी इच्छा से लावे और जो एक हजार रुपये को श्री रघुनाथ जी के कोश में जमा करवाये उसके व्याज में सदा सर्वदा काल 12 हज़ार सालिग्राम का पूजन होवे और यह आज्ञा भी श्री महाराज साहब ने लोकोपकार वास्ते दी है कि जितने प्रकार के हमारे धर्मार्थ जम्मू उत्तरवाहिनी में हैं । उसमें जिस प्रकार का धर्मार्थ करने की इच्छा किसी को होवे जितना

रुपया जमा करवायेगा उनके सूद 1 आने सैंकड़े के ड्योढ़े लेखे वह धर्मार्थ दिया जायेगा। हिसाब प्रति मास मालिक के पास पहुँचेगा और ऐसे मन्दिर सदावर्त काश्मीर त्रिकुटा भगवती में हैं और अपने राज्य के प्रत्येक जिले तहसीलों में मन्दिर बना करके ग्राम लगा दिये हैं और प्रत्येक मन्दिर में यथायोग्य पूजा सदावर्त रख कर पूजा और बालकों के पड़ने वास्ते पण्डित छोड़े जायेंगे। इसके सिवाय गंगा जी बद्रीनारायण वृन्दावन काशी जी प्रयाग अयोध्या गया गोदावरी रामेश्वर द्वारिका आदि प्रसिद्ध तीर्थों में सदावर्त लगाये हैं। इनकी सब व्यवस्था पत्थर पर नहीं खोद सकते क्योंकि सब व्यवस्था लिखने से एक पुराण बनता है। जब देखो कि इस मिथ्या रूपी संसार समुद्र पार होने का भक्ति से परे कोई उपाय नहीं। भक्ति बहुत प्रकार की है जैसी किसी से हो सके वैसी करे। पूजन प्रणाम विष्णु मन्दिरों का सोधन पुष्प तुलसी ल्याय देणी चढ़ानी मन्दिर में जाय करके दर्शन करना प्रदक्षिण करवा लेवै। घट्टा लगाना धूप-दीप विष्णु जी के चरणोवादक लेना। विष्णु मन्दिर में नृत्य गीतादिक नेक एह सभी तरह से भक्ति परम पद को देती और विष्णु पूजन की महिमा देख लेनी होवे तो रणवीर भक्ति रत्नाकार में देखो किंचित इहां भी लिखते हैं।

श्लोक : पत्रं पुष्पं फलं तोय सो में भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्तय पहृतम् अश्नामि प्रयतात्मनः ॥

भाषा श्री गीता जी में भगवान् श्री कृष्ण जी कहते हैं कि अर्जुन जो पुरुष भक्ति से मेरे को पत्र पुष्प फल जलादि वस्तु निवेदन करता है उस वस्तु को मैं प्रसन्नता से भोजन करता हूं। श्लोक शालिग्राम पूजन का महात्म लिंग पुराण कामासक्तोऽपि मो नित्यं भक्ति भावविव र्वजितः। शालिग्राम शिला पुत्र पूजयेत् सोऽच्वुतो भवेत्॥ भाषा जो पुरुष काम में सक्त हो भक्ति के विनाभि शालिग्रामों का पूजन करे सो भी विष्णु का रूप होता है। अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होता होता है। श्लोक—कामासक्तोऽपि क्रुद्धोऽपि शालिग्राम शिलार्चनम। भक्त्या वा यदि वाऽभक्त्या कृत्वा मुक्तिमवाप्नुयात्। अर्थ काम में आसक्त हो क्रोध युक्त हो भक्ति से वा बिना भक्ति से शालिग्रामों का पूजन करके मोक्ष को प्राप्त होता है।

श्लोक—शालिग्राम समीपे तु क्रोश मात्रं समततः।
कीटकोऽपि मृतो याति वैकुण्ठ भुवनं गृह ॥

भाषा शालिग्राम के चारों ओर क्रोश-क्रोश के अन्दर कीटकादि जड़ योनि की मृत्यु होवे तो वैकुण्ठ में मनुष्य तो क्यों नहीं वैकुण्ठ में जावेगा। सालिग्राम शिला स्मरण करने से करोड़ हत्याओं को नाश करती है और पद्म पुराण में लिखा है—12 शालिग्राम का पूजन करे उसको कोटि शिवलिंग पूजन का फल

होता है। भक्ति से सोलां का पूजन करने से मन बांछित सिद्धी प्राप्त होती है तथा 20 तथा चौवीस का पूजन से अश्वमेध यज्ञ का फल होता है बत्तीस पूजन से शिवलोक मिलता है। चालीस पूजने से वैकुण्ठ प्राप्ति होती है । 64 तथा 80 पूजने से सायुज्य मुक्ति प्राप्त होती है। 100 सालिग्राम पूजन करने वाले के घर में लक्ष्मी सदा वास करती है। सौ से अधिक सालिग्राम के फल की संख्या ब्रह्मादि देवता भी नहीं जान सकते देखो कि विष्णु शिवभक्ति की महिमा को चारों वेद अठारां पुराण और इतिहास वर्णन करके जिसका अन्त नहीं पाया। यह संसार भूत, भविष्यत् वर्तमान तीनों कालों मे अनित्य है जिसमें भी आदमी का जीवन पिप्पल के पत्र के अग्र में स्थित जो जल है उसमें भी चल है। बड़े बड़े महाराजे बड़े-बड़े बादशाह ऋषि मुनि आदि इस भूमि ऊपर हो गए जिनके नाम यश पुरुषार्थ पुराण इतिहास तवारीखादि शास्त्रों में वर्णित है और उन्होंने जो कोई स्थान में शुभ अशुभ कार्य किये हैं उनके देखने से मालूम होता है, नहीं तो इस भूमि पर कोरानकोट जीव हो गये जिनके कुछ नाम का लता नहीं इनकी तो क्या बात है । ब्रह्मा आदि कल्पायु वाले न रहे। इस संसार में जो नेक या वद किया हुआ कार्य रहता है । इस वास्ते जितना हो सके नेक काम करे ग्रन्थ बनावे, विष्णु का मन्दिर धर्मशाला जलाशय आदि जो हो सके तो शुभ चिन्ह बनावे जिससे कुछ काल तक नाम बना रहे बनाने की सामर्थ्य नहीं होवे पूजनादि परमेश्वर की भक्ति करे यह जो व्यवस्था की गई है। इससे लोकोपकार से बिना और कुछ प्रयोजन नहीं है । इसमें जितना हो सके इसकी वृद्धि करे इसकी पालना करे जो कोई इसको बिगाड़ेगा उसको अपने मत में जो धर्म है उसकी हानि करने का पाप लगेगा जो इसकी वृद्धि करेगा उसको शुभफल प्राप्त होगा।"

देवनागरी लिपि और हिन्दी भाषा में लिखित उपरोक्त तीनों शिलालेखों का ऐतिहासिक और सांस्कृतिक महत्व तो है ही किन्तु इनका भाषायी महत्व तो कम नहीं है। ये शिलालेख हिन्दी गद्य के भी सुन्दर उदाहरण हैं। इनमें प्रयुक्त स्थानीय शब्दावली भाषा के आंचलिक स्वरूप की ओर भी संकेत करती है।

डोगरी भाषा के लिए भी अब देवनागरी लिपि का प्रयोग होने लगा है इस से इस लिपि का प्रचलन और बढ़ गया है।

अज्ञात एवं अन्य लिपियों के शिलालेख

डुग्गर के अम्बरायन क्षेत्र से खुदाई में जो मिट्टी के बर्तन उपलब्ध हुए उन पर अंकित लिपि को अभी तक नहीं पढ़ा जा सका है। इसी प्रकार अम्बरायन से उपलब्ध एक अन्य शिलालेख की लिपि भी विवादास्पद है। अखनूर में स्थित कामेश्वर मन्दिर के प्रांगण में बिखरे कुछेक पत्थरों पर अंकित लेखों

की लिपि तमिल बताई गई है। विद्वानों का विश्वास है कि ऐसा तमिलनाडू के साधु सन्तों के प्रयास से हुआ होगा जो इस स्थान की यात्रा करने आए होंगे। इसी प्रकार विद्यारत्न खजूरिया ने म्होरगढ़ दुर्ग के मुख्य तोरण पर अरबी भाषा में लिखित एक खंडित अभिलेख की चर्चा अपने एक लेख में की है। फ़ारसी और रोमन लिपियों में अंकित कुछ शिलापट्ट कब्रिस्तानों में भी लगे हैं जिनका भाषायी दृष्टि से महत्व बनता है।

डुग्गर के शिलालेखों पर खोज का कार्य अभी पूर्ण नहीं हुआ है। इस दिशा में अभी कार्य चल रहा है। उपलब्ध शिलालेखों में से कई कुछ शिलालेखों को भी अभी पढ़ा नहीं जा सका है। आशा है निकट भविष्य में पुरात्व विभाग इस ओर भी ध्यान देगा।

डुग्गर के प्रसिद्ध तीर्थस्थल

☐ डॉ॰ सत्यपाल श्रीवत्स

अति प्राचीनकाल से ही डुग्गर की धरती जिसके अधिकांश भाग का नाम मद्र देश था, देवी-देवताओं और ऋषि मुनियों की रंग एवं साधना स्थली रही है। इस विषय में ऋग्वेद से लेकर धर्मोत्तर पुराण तक का सम्पूर्ण साहित्य साक्षी के रूप में विद्यमान है।

समय के साथ-साथ ज्यों-ज्यों यहाँ पर विदेशी जातियां या धार्मिक विश्वासों के लोग आते गये त्यों-त्यों उनके धार्मिक विश्वासों ने भी यहाँ अपने पैर जमाने आरम्भ कर दिये। यह डुग्गर की धर्म प्रधान संस्कृति की ही महिमा है कि यहाँ की नदियों, झीलों और पर्वतों को भी धार्मिक महत्व प्राप्त होता गया। इसीलिए देविका नदी को (जो शुद्ध महादेव प्रदेश से निकलकर डुग्गर प्रदेश से बहती हुई पाकिस्तान में पहुंचकर रावी नदी के साथ मिल जाती है) पार्वती का नदी रूप माना गया है (उमा देवीति मद्रेषु देविका या सरिद्वरा मद्र देश में उमा (पार्वती) ने श्रेष्ठ नदी का रूप धारण कर लिया हुआ है)

इसी प्रकार भद्रवाह के पास कैलाश पर्वत पर स्थित वास कुण्ड नामक झील तथा सरूईंसर तथा मानसर नामक झीलों के साथ भी लोगों के धार्मिक विश्वास जुड़े हुए हैं।

इस प्रदेश के धर्म स्थलों की संख्या बहुत अधिक है अतः हम केवल प्रसिद्धतम धर्मस्थलों का विवेचन करना चाहेंगे।

वैष्णवी पीठ—यह सिद्ध देवी पीठ डुग्गर के प्रसिद्धतम धर्मस्थलों में मूर्धन्य है। इसकी महिमा एवं ख्याति भारत में ही नहीं अपितु विदेशों में भी फैली हुई है। इस सिद्ध पीठ में विराजमान भगवती त्रिकूटा (वैष्णवी) के दर्शनार्थ भारत के कोने-कोने से तथा विदेशों से प्रतिवर्ष लाखों यात्री आकर पुण्यलाभ प्राप्त करते हैं। 3 अगस्त 1986 ई॰ से अब यह एक स्वशासित न्यास (ट्रस्ट) के अधीन है।

यह सिद्ध पीठ जम्मू नगर से उत्तर की ओर हिमालय पर्वत श्रृंखला के एक त्रिकूट नामक पर्वत के पश्चिमी पार्श्व में एक 15 फुट लम्बी प्राकृतिक गुफा के भीतर स्थित है। यह गुफा भीतर से लगभग 4 वर्ग फुट व्यास में फैली हुई है। इसी के पूर्वी भाग में भगवती महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती की प्रतीक पत्थर की तीन पिण्डियां विराजमान हैं। इन्हीं तीनों का सांझा नाम त्रिकूटा या वैष्णवी है जिसे जनसाधारण 'वैष्णो देवी' नाम से जानते हैं। परन्तु क्योंकि यह पर्वत त्रिकूट है और इसकी गुफा में सत्व, रज और तमो गुण की प्रतिनिधि महासरस्वती, महालक्ष्मी और महाकाली की प्रतीक तीन पिण्डियां विराजमान हैं अत: इसका तान्त्रिक महत्व भी स्वत: सिद्ध है।

वस्तुत: भारत के प्राचीन धार्मिक एवं तान्त्रिक साहित्य में जिस वैष्णवी भगवती का उल्लेख आता है वह भगवान् विष्णु की शक्ति का आम प्रचलित नाम है। इस गुफा में क्योंकि तीन पिण्डियों में प्रधान पिण्डी भगवती वैष्णवी की प्रतीक है अत: इसी कारण से इस पीठ का वैष्णवी पीठ नाम पड़ जाना स्वाभाविक है। ये तीनों शक्तियां (महासरस्वती, महालक्ष्मी तथा महाकाली) ब्रह्मा, विष्णु और महेश की शक्तियां होने के कारण इस सारी सृष्टि के रक्षण पोषण और शिक्षण की व्यवस्था करती हैं। इन्हीं तीनों के विविध नामों तथा रूपों की हमारे देश में सर्वत्र देशकाल द्वारा प्रभावित रीति-रिवाजों के अनुसार पूजा-अर्चना होती है।

हमारे पौराणिक साहित्य में देवी के अनेक रूपों की विशद् चर्चा है। इस विषय में मार्कण्डेय पुराण, पद्म पुराण, वायु पुराण, अग्नि पुराण, ब्रह्मवैवर्त पुराण, स्कन्द पुराण, गरुड़पुराण, देवीभागवत पुराण आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

एक अन्य कथा के अनुसार प्राचीनकाल में वैष्णव धर्मावलम्बी और शैव मत के अनुयायी भैरव के मध्य भारी वैमनस्य उत्पन्न हो गया था। अन्तत: भैरव से डर कर वैष्णव मैदान छोड़कर पर्वतीय प्रदेश की ओर भाग गए थे। वैष्णवों की सेना का नेतृत्व वैष्णवी नामक एक युवा कुंवारी कन्या कर रही थी। इनका पहला भयंकर युद्ध गंडोली नगरोटा नामक स्थान पर हुआ था। इसीलिए यहाँ बाद में देवी के भक्तों द्वारा एक मन्दिर बनाया गया था। इसके बाद कटड़ा के पास नमाईं नामक स्थान पर भैरव ने अपनी सेना के साथ भगवती वैष्णवी पर आक्रमण कर दिया। जिसे देवी ने असफल बना दिया। कुछ समयोपरान्त देवी के भक्तों ने यहाँ पर भी एक मन्दिर बनवाया जो आज 'देवामाई' के नाम से प्रसिद्ध है।

इसके बाद जिस तीसरे स्थान पर देवी वैष्णवी और भैरव का युद्ध हुआ था उसे आज आदि कुंवारी के नाम से जाना जाता है। यह स्थान बाण गंगा

नदी को पार करके तथा कुछ चढ़ाई चढ़ने के बाद आता है। कहते हैं कि भैरव ने इस स्थान पर देवी के साथ सन्धि का प्रस्ताव रख कर देवी के साथ विवाह करने की इच्छा व्यक्त की थी जिसे देवी ने तुरन्त ठुकरा दिया था। इसके बाद देवी हाथी-मत्था और सांझी छत आदि स्थानों से होती हुई गुफा द्वार पर पहुंच गई, परन्तु भैरव ने वहां तक भी देवी का पीछा किया। उस समय भगवती ने क्रोधित होकर अपने खडग से भैरव का सिर धड़ से अलग कर दिया था। खडग का प्रहार इतना तेज़ था कि भैरव का सिर उछल कर लगभग तीन किलोमीटर दूर (कटड़ा की ओर) आकर गिर गया था। यहां उसका सिर गिरा था, वहां भी देवी भक्तों ने एक छोटा सा मन्दिर बनवा दिया था। देवी भक्तों द्वारा भैरव को इतना महत्व देने का कारण था भैरव द्वारा मरते समय देवी के आगे प्रार्थना करके अपने गुनाहों के लिए क्षमा मांगना। अब वैष्णवी भगवती का दर्शन करने के लिए आने वाले यात्री गुफा में भगवती के दर्शन करने के बाद ही भैरव के कटे मस्तिष्क (अब पत्थर रूप में) के दर्शन करते हैं।

यात्रा विवरण—

जम्मू कश्मीर के बाहर से आने वाले यात्री अपनी सुविधा तथा इच्छानुसार रेल, बस, टैक्सी, कार, मोटर साइकल, साइकल, हवाई जहाज़ आदि से यात्रा करके पहले जम्मू और फिर कटड़ा तक पहुंचते हैं। जो यात्री रेल तथा हवाई जहाज से आते हैं उन्हें भी जम्मू आकर बस का ही आश्रय लेना पड़ता है। हां, दूसरे वाहनों द्वारा जम्मू तक आने वाले यात्री अपनी यात्रा कटड़ा तक जारी रख सकते हैं। कटड़ा से सभी यात्री पैदल या घोड़ों, पालकियों या पिट्ठुओं के द्वारा भगवती के पवित्र गुफा द्वार तक पहुंचते हैं। आजकल वैष्णों देवी ट्रस्ट द्वारा यात्रियों की सुख सुविधा के लिए कटड़ा से लेकर गुफाद्वार तक बड़े ही प्रशंसा योग्य प्रबन्ध किए गये हैं। स्थान-स्थान पर धर्मशालाएं, विश्रामालय, वाटर-कूलर आदि अनेक प्रकार की सुख-सुविधाएं प्रस्तुत की गई हैं। इसी प्रकार भवन के समीप भी आवास, शौचालय, स्नानागार आदि के भी सुप्रबन्ध हैं।

बालासुन्दरी—जम्मू प्रान्त के जिला मुख्यालय कठुआ से लगभग 10 किलोमीटर दक्षिण-पश्चिम की ओर नगरीपरोल नामक नगर के पास भगवती बाला सुन्दरी का एक प्राचीन मन्दिर है जिसके भीतर भगवती बाला तथा सुन्दरी की दो पिण्डियां विराजमान हैं। यात्री इन्हीं के दर्शन करके पुण्यलाभ प्राप्त करते हैं।

इस मन्दिर का आकार यद्यपि इतना विस्तृत नहीं है, परन्तु इसकी दो-दो फुट के लगभग मोटी दीवारों से यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि यहां प्रारम्भ में अति विशाल मन्दिर बनाने की योजना बनाई गई होगी

जो किसी कारण से कार्यान्वित नहीं हो सकी होगी या फिर यहां एक विशाल मन्दिर बन जाने के बाद विदेशी आक्रान्ताओं ने उसे ध्वस्त कर दिया होगा। मन्दिर के भीतर पूजा स्थान के पास ही एक छोटे से ताक में एक पत्थर पर उकेरा हुआ ब्राह्मी लिपि में शिलालेख यदि पढ़ा जा सके तो इस मन्दिर के बारे में पर्याप्त जानकारी प्राप्त हो सकती है। खेद की बात है एक ताम्रपत्र पर लिखा अभिलेख मन्दिर के पुजारी के घर से चोरों द्वारा चुरा लिया गया है, अन्यथा वह भी इस मन्दिर के बारे में जानकारी देने में सहायक सिद्ध हो सकता था।

कहा जाता है कि प्राचीन काल में नगरी परोल के एक ब्राह्मण ने जब इस मन्दिर के स्थान पर अपनी गाय के लिए लोहे की 'खुरपी' के साथ घास कुरेदना प्रारम्भ किया तो उसकी खुरपी में अचानक रक्त के धब्बे लग गए। वह ब्राह्मण यह देखकर आश्चर्य चकित रह गया। क्योंकि वह धार्मिक विचारों का व्यक्ति था अतः वह प्रायश्चित भाव से ग्रस्त होकर वहीं पर बैठ गया तथा खाना-पीना छोड़कर ईश्वर का नाम जपता हुआ यह प्रार्थना करने लगा कि जब तक खुरपी में रक्त लगने के कारण के बारे में सही जानकारी प्राप्त नहीं होगी मैं अन्न-जल ग्रहण नहीं करूंगा जब उसे इस प्रकार अन्न-जल छोड़े तीन दिन हो गए तो रात के समय उसे दो कन्याएं दिखाई पड़ीं जिन्होंने उसे उसी स्थान को खोदने का संकेत दिया। प्रातः होते ही जब उसने धीरे-धीरे उस स्थान को खोदा तो उसे दो पिण्डियां दिखाई पड़ीं, जिन्हें देखकर वह अति प्रसन्न हुआ। उसने उनकी तत्काल पूजा आराधना की और उन्हें वहीं पर स्थापित कर दिया। कुछ समय बाद वहां पहले छोटा और बाद में विशाल मन्दिर बनाया गया (सम्भवतः किसी राजा द्वारा)।

आजकल इस देवी पीठ की प्रसिद्धि दूर-दूर तक फैली हुई है। जम्मू प्रान्त (डुग्गर प्रदेश) के यात्री तो यहां आते ही हैं पर पंजाब और हिमाचल प्रदेश से आने वाले यात्रियों की संख्या भी हजारों में होती है। शारद तथा चैत्र के नवरात्रों में तो इस मन्दिर के आस-पास विशेष चहल-पहल रहती है। नित्य हवन तथा पूजा-आराधना निरन्तर चलती रहती है। कुछ श्रद्धालु लोग अपने बच्चों के कर्णबेध संस्कार भी यहीं पर सम्पन्न करते हैं तथा अनेक प्रकार की मनौतियां मानकर मन वांछित फल प्राप्त करते हैं।

सरथल देवी—जम्मू कश्मीर राज्य के डोडा जिला के अन्तर्गत किश्तवाड़ तहसील में सरथल नामक पर्वत पर बने मन्दिर में अष्टादश भुजाओं से सुशोभित काले पत्थर से निर्मित भगवती की मूर्ति विराजमान है, जिसकी प्रसिद्धि दूर-दूर तक फैली हुई है। इस मूर्ति को देखकर बड़े-बड़े सिद्ध हस्त मूर्तिकार भी आश्चर्यचकित हो जाते हैं।

कहते हैं कि यह मूर्ति कश्मीर से लाई गई थी जब कश्मीर के क्रूर सुलतान सिकन्दर (1389—1413 ई०) ने हिन्दू देवी देवताओं की मूर्तियों तथा मन्दिरों का विध्वंस करना आरम्भ किया था। उस समय देवी भक्तों ने यह मूर्ति छिपाकर कश्मीर से लाई थी और इस स्थान पर स्थापित की थी। प्रसिद्ध डोगरा जरनैल जोरावरसिंह ने इस मन्दिर का पुनरुद्धार करवाकर इस मन्दिर के साथ सैंकड़ों कनाल भूमि लगवा दी थी जिससे यह देवी पीठ हर प्रकार से आत्मनिर्भर हो गया था। पहले यहां पशु बलि भी दी जाती थी, पर अब यह प्रथा धीरे-धीरे समाप्त प्रायः हो चुकी है।

इस मन्दिर के पास ही दो और मन्दिर भी हैं जिनमें एक शिव मन्दिर है जबकि दूसरा शीतला माता का मन्दिर है। नवरात्रों, शिवरात्रि तथा भाद्रपद महीने की अमावस्या को यहां मेले आयोजित किए जाते हैं।

इस देवी पीठ तक पहुंचने के लिए आज भी यात्रियों को सात किलोमीटर पैदल यात्रा करनी पड़ती है, परन्तु यात्री फिर भी हर वर्ष हजारों की संख्या में यहां पहुंच कर देवी दर्शनों से कृतार्थ होते है।

सुकराला देवी—डुग्गर के धर्म स्थलों में देवी सुकराला का भी अपना गौरवपूर्ण स्थान है। सुकराला देवी को मल्ल देवी के नाम से अभिहित किया जाता है। यह स्थान बिलावर से लगभग 8 किलोमीटर उत्तर पश्चिम की ओर है।

एक दन्त कथा के अनुसार प्राचीनकाल में क्योंकि इस स्थान के समीप महर्षि शुक्र (भृगु) का आश्रय था अतः इस स्थान का नाम शुक्रालय भी हो सकता है जो बाद में ध्वस्तात्मक परिवर्तन के कारण सुकराला रूप में विकसित हो गया। इसके अतिरिक्त क्योंकि इस मन्दिर के भीतर महाकाली की मूर्ति विराजमान है, इसलिए सु + कराला = भयंकर (शत्रु के लिए) रूपवाली नाम भी उपयुक्त जान पड़ता है।

कहा जाता है कि सन् 1811 ई० में डुग्गर के प्रसिद्ध कवि दत्त (दत्तु) के गुरु पं सूर्यनारायण एक बार यहां आए थे तो उन्होंने यहां श्री यन्त्र की स्थापना की थी जिस पर मन्दिर का निर्माण किया गया था। परन्तु यह भी प्रमाणित हो चुका है कि यह मन्दिर पं० सूर्यनारायण के यहाँ आने से बहुत समय पहले बनाया जा चुका था। इस बारे में एक अन्य प्रचलित कथा इस प्रकार है—चम्बा नरेश राजा ऊमेद सिंह एक बार सुकराला देवी के समीपवर्ती वन में शिकार खेलने के लिए आया था। यहाँ उसने अनेक वन्य पशुओं का शिकार किया, जिससे देवी उस पर रुष्ट हो गई। परिणामतः वह सख्त बीमार पड़ गया। अनेक उपाय करने पर भी जब राजा ऊमेद सिंह की हालत न सुधरी तो बिलावर के शिवनन्दन पाधा नामक एक तान्त्रिक को वहां बुलाया

गया। उसने अपनी तान्त्रिक शक्ति से बतलाया कि राजा पर इस प्रदेश की सुकराला देवी का प्रकोप हो गया है। राजा ने पास की बावली के तट पर लगे चमेली के झाड़ के नीचे दबी पड़ी देवी की मूर्ति बाहर निकलवा कर उसकी पूजा करके उसकी स्थापना करवाई और वहां एक मन्दिर का निर्माण भी करवाया। यह वर्तमान मन्दिर वही है। क्योंकि राजा ऊमेदसिंह का राज्य काल ई० 1748—1764 अवधि में रहा, अतः इसी अवधि के बीच किसी समय इस मन्दिर का निर्माण करवाया होगा, ऐसा विद्वानों का अनुमान है।

अब यातायात की सुविधाएं बढ़ जाने से सुकराला भगवती के दर्शनार्थ प्रतिवर्ष हजारों यात्री आते हैं तथा विशेषकर नवरात्रों में तो भारी भीड़ रहती है। पहले यहां भी बकरे की बलि दी जाती थी कभी-कभी तो दिन भर बकरे काटे जाते थे जिससे मन्दिर के आगे का दृश्य कंपा देने वाला होता था। परन्तु अब देवी भक्तों ने देवी को हलवा प्रसाद से ही प्रसन्नता के लिए मनवा लिया है।

पुरमण्डल तीर्थ—जम्मू प्रान्त के धर्मस्थलों में पुरमण्डल का भी महत्वपूर्ण स्थान है। विद्वानों का विचार है कि प्राचीन काल में यह स्थान महाराज पुरूरवा की राजधानी थी जैसा कि ऊपर कहा गया है इस स्थान से होकर बहने वाली देविका नदी को हिन्दू धर्म ग्रन्थों में पार्वती का रूप माना गया है। इस नदी के बारे में विष्णु धर्मोत्तर पुराण, मार्कण्डेय पुराण, नीलमत पुराण, अष्टाध्यायी यादि ग्रन्थों में उल्लेख मिलता है इसका उद्गम स्थल शुद्धमहादेव के समीपवर्ती सहस्रधारा नामक स्थान से माना गया है। इस स्थान से लेकर पाकिस्तान में रावी के साथ इसके मिल जाने तक यह नदी पवित्र मानी गई है तथा इसका महत्व भी गंगा के समान है। इसके तट पर जहां कहीं पर भी मृत देह का अन्तिम संस्कार किया जाता है उसकी अस्थियों का चयन न करके इसी में प्रवाहित कर दिया जाता है। इस प्रकार इस नदी का गंगा नदी से किसी भी प्रकार कम महत्व नहीं है।

इस नदी की दो अन्य विशेषताएं भी हैं—

(1) अपने उद्गम स्थल से लेकर पुरमण्डल तीर्थ तक यह कहीं दृश्य और कहीं अदृश्य रूप में बहती है।

(2) यह वर्ष भर में कई बार भूमिगत होकर अधिक बहती है जबकि भूमि के ऊपर बहुत कम। अतएव वर्षा ऋतु या अन्य वर्षा वाले दिनों को छोड़कर जब भी स्नान आदि के लिए इससे जल प्राप्त करना हो तो इसमें खड्ढा खोदना पड़ता है। खड्डा खोदने के कुछ समय के बाद पानी से भर जाता है जिसमें लोग स्नानादि करके अपना तीर्थ कृत्य सम्पन्न करते हैं।

पुरमण्डल से लगभग सात किलोमीटर दक्षिण की ओर देविका नदी मोड़

ले कर जब उत्तराभिमुख होकर बहने लगती है तो इसका नाम उत्तर वाहिनी पड़ जाता है। जम्मू-कश्मीर के स्व० महाराज रणवीर सिंह (1858-1885 ई०) ने पुरमण्डल से लेकर इस स्थान तक पूरे प्रदेश को काशी के समकक्ष बनाने के लिए यहां अनेक मन्दिरों के निर्माण की योजना बनाई थी, परन्तु महाराज की असामयिक मृत्यु हो जाने से उनका स्वप्न अधूरा ही रह गया था। गत वर्ष राज्य के धर्मार्थ ट्रस्ट जिसके स्वत्वाधिकारी महाराज रणवीर सिंह के ही वंशज डॉ० कर्णसिंह ने एक अधूरे मन्दिर का निर्माण पूर्ण करवाया।

शुद्ध महादेव—डुग्गर के शीर्ष धर्म स्थलोंमें यदि शुद्ध महादेव को वैष्णवी पीठ के समकक्ष माना जाए तो अत्युक्ति नहीं होगी। यह स्थान जम्मू से एक सौ सात कि०मी० की दूरी पर पूर्वोत्तर दिशा में हिमालय पर्वत श्रृंखला के दामन में है।

एक दन्त कथा के अनुसार शुद्ध महादेव से तीन किलोमीटर पूर्व-दक्षिण कोण में एक मान तलाई नामक स्थान पर राजा हिमालय की राजधानी थी, जिसकी पुत्री गौरी शिव की उपासिका थी और उन्हें पति रूप में वरण करना चाहती थी। वह प्रतिदिन समीप के गौरी कुण्ड में स्नान करके शुद्ध महादेब स्थान पर शिवलिंग पर जल चढ़ाया करती थी। उमी के निकट नाड़ा नामक स्थान पर एक शुद्धान्त नामक दैत्य रहता था जो गौरी पर आसक्त हो चुका था, अत: गौरी जब घर से निकलकर उक्त कुण्ड में स्नानार्थ तथा शिव-पूजनार्थ जाती तो वह दैत्य उसे सताने का प्रयत्न करता। गौरी उसकी घिनौनी चेष्टाओं से अति दुखी हो गई थी। परिणामत: उसने एक दिन अति क्षुब्ध होकर भगवान् शिव के आगे उस राक्षस से अपनी शील की रक्षा के लिए प्रार्थना की। आशुतोष शिव ने भी तुरन्त गौरी की प्रार्थना मान कर अपना भारी त्रिशूल लेकर उस राक्षस पर धावा बोल दिया। राक्षस शिव के भयंकर रूप से डर कर भाग खड़ा हुआ। शिव ने भागते हुए राक्षस पर ज्यों ही जोर से अपना त्रिशूल फैंका वह राक्षस को लग भी गया और साथ ही टूट कर टुकड़े-टुकड़े भी होकर धरती पर गिर भूमि में गढ़ गया। राक्षस ने गिरते ही शिव-शिव रटना शुरू कर दिया, जिससे प्रसन्न होकर भगवान् आशुतोष ने उसका अपराध ही क्षमा नहीं किया अपितु उसे यह वरदान भी दिया कि आने वाले समय में मेरा यह स्थान 'शुद्ध महादेव' कहलाएगा। अर्थात् भविष्य में मेरे नाम से पहले तुम्हारा नाम जुड़ कर ही इस स्थान की पहचान हो सकेगी एवं यह तीर्थ संसार भर में प्रसिद्ध हो जाएगा।

यदि उपर्युक्त दन्त कथा को सच भी मान लिया जाए तो भी इस मन्दिर के परिसर की भूमि में गहरे गढ़े त्रिशूल के टुकड़ों पर उत्कीर्ण लेख के भावार्थ के बारे में गुत्थी बिना सुलझी ही रह जाएगी। इस विषय में एक तथ्य ध्यान

देने योग्य है कि त्रिशूल पर अंकित ब्राह्मी लिपि को यथा सम्भव पढ़ने से जिस राजा विभु नाग का नाम सामने आया है वह अवश्य ही भारशिव नागवंशीय राजा का नाम है जिसका समय इतिहासकारों ने ई० सन् 290—315 माना है। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि सम्भवतः शुद्ध महादेव को तीर्थ रूप में प्रसिद्ध करने में नागराजाओं का योगदान महत्वपूर्ण रहा होगा।

इस मन्दिर के भीतर विराजमान काले पत्थर से निर्मित शिव और पार्वती की मूर्तियां कला का सुन्दर नमूना हैं। कहते हैं कि इस मन्दिर का पुनर्रुद्धार गुरु गोरखनाथ के गोरखपंथ के अनुयायी योगी रूपनाथ ने करवाया था।

श्रद्धालु लोग प्रतिवर्ष हजारों की संख्या में इस पवित्र तीर्थ की यात्रा करते हैं। आषाढ़ पूर्णिमा को यहां विशाल मेला लगता है। डुग्गर में इस पूर्णिमा को 'शुद्धि की पुन्यां' नाम से अधिक जानते हैं। शुद्ध महादेव मन्दिर से कुछ किलोमीटर के अन्तर पर देविका तवी तथा भर्तृहरि नदियों का संगम है जिसे 'विनिसांग' कहते हैं। यहां स्नान करने से मनुष्य को पुण्य लाभ होता है। इस स्थान पर एक जीर्ण-शीर्ण शिव पार्वती का मन्दिर भी है। ये भी काले पत्थर से गढ़ी हुई मूर्तियां हैं। विनिसांग से आठ किलोमीटर दूर पहाड़ी पर 'कलासर' नामक झील है। इसी से भर्तृहरि नदी का उद्गम होता है। कलासर झील से ही गौरी कुण्ड की ओर सीधा पगडंडी नुमा रास्ता जाता है। गौरी कुण्ड से 'गोकर्ण तीर्थ' और वहां 'अम्बुनिज' तीर्थ को रास्ता जाता है। अम्बुनिज तीर्थ के सन्निकट ही 'सोमतीर्थ' है। इसके शुद्ध-पवित्र जल-स्रोत में स्नान करके लोग पुण्य लाभ करते हैं। इस तीर्थ से थोड़े से अन्तराल के बाद आ जाती है 'पापनाशिनी बावली' और वहीं से यात्री मानतलाई स्थान पर पहुँच जाते हैं। भारतीय पुरातत्त्व वेत्ताओं का मत है कि सम्भवतः यहीं पर किसी हिमालय नाम वाले पौराणिक राजा के महल रहे होंगे जिसके घर पार्वती ने जन्म लिया था और इसी स्थान शिव-पार्वती का विवाह भी सम्पन्न हुआ था।

आजकल यहां पर धीरेन्द्र ब्रह्मचारी का आधुनिक सुख-साधनों से सुसज्जित अपर्णा नामक योग आश्रम है।

ऐरावती तीर्थ—डुग्गर के धर्म स्थलों में ऐरावती (ऐरवां) तीर्थस्थल का भी विशिष्ट स्थान है। यह स्थान जम्मू प्रान्तान्तर्गत कठुआ नगर से 10 किलोमीटर पश्चिम की ओर है। यहां दो प्राचीन शिव मन्दिर हैं तथा एक नवनिर्मित गङ्गा मन्दिर भी है। इसके साथ ही तीन जलाशय हैं, जिनमें एक मृत व्यक्तियों के अस्थि प्रवाह के लिए निश्चित है। इससे स्पष्ट है कि यह जलाशय डुग्गर की दूसरी गङ्गा है, अर्थात् पहली देविका नदी और दूसरा यह जलाशय।

ऐरावती के शिव मन्दिरों की वास्तुकला बौद्ध स्थापत्यकला से प्रभावित प्रतीत होती है। पुराने शिव मन्दिर में शिवलिङ्ग भी फर्श के समतल से नीचे है

और उस पर एक प्रहार का चिह्न है जिसके साथ अनेक दन्तकथाएं जुड़ी हुई हैं, परन्तु सम्भवत: किसी विदेशी आक्रान्ता ने इसे ध्वस्त का प्रयत्न किया होगा।

इस तीर्थ के बारे में एक प्राचीन कथा इस प्रकार है—प्राचीनकाल में जब राजा भागीरथ गंगा को स्वर्ग से धरती पर ला रहे थे तो गङ्गा के धरती पर बहते ही एक स्थान पर चट्टान से अवरोध आ गया और उस स्थान पर तुरन्त भारी मात्रा में जल एकत्र होकर वहां झील जैसी बन गई। उस समय भागीरथ ने घबराकर इन्द्र के आगे सहायता के लिए प्रार्थना की। इन्द्र भागीरथ की सहायता के लिए अपना 'ऐरावत' नामक हाथी भेजा, जिसने चट्टान को तो हटा दिया परन्तु उसके तीव्र प्रवाह से वह स्वयं बह गया। जब इन्द्र ने भागीरथ से अपना हाथी मांगा तो वह निरूत्तर हो गया तब इन्द्र से कुछ समयोपरान्त हाथी लौटाने का वायदा करके भागीरथ शिव की आराधना करने लगा। शिव ने प्रसन्न होकर जैसे 'तथास्तु' कहा वैसे ही वहीं पर धरती फटी और ऐरावत बाहर आ गया और इसीलिए इस स्थान का नाम ऐरावती, ऐरावत पड़ गया जो ध्वन्यात्मक परिवर्तन से बाद में 'ऐरवां' प्रसिद्ध हो गया। बाद में इस स्थान पर शिव मन्दिर बन गए।

इस धर्मस्थल की जम्मू प्रान्त, पंजाब तथा हिमाचल में पर्याप्त प्रसिद्धि है? शिवरात्रि, वैशाखी, मकर संक्रान्ति आदि पर्व दिनों पर यहां भारी मेले लगते हैं।

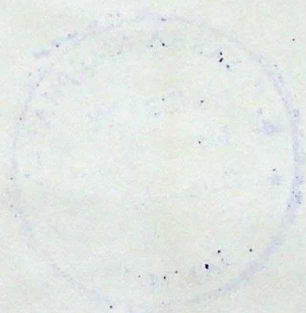
बिल्वकेश्वर महादेव—बिलावर का यह प्राचीन मन्दिर अपनी अभूतपूर्व तथा अद्भुतकला के लिए पुरातत्त्व वेत्ताओं के लिए आज भी आश्चर्य बना हुआ है। जबकि स्थापत्य कलाविदों के लिए बड़ी चुनौति भी है। विद्वानों का यह कहना उपयुक्त ही है कि इस मन्दिर की स्थापत्य कला पर न तो कश्मीर के मार्तण्ड मन्दिर की कला का प्रभाव है और न अवन्तिपुरा के मन्दिरों का और न ही उत्तर भारत के अन्य मन्दिरों की स्थापत्य कला का इस पर किसी भी प्रकार का प्रभाव है। यह तो डुग्गर की निजी सर्वथा विशुद्ध वास्तुकला का अद्भुत नमूना है। इसकी प्राचीनता को देखते हुए लोग इसे पाण्डवों द्वारा निर्मित होने का अनुमान भी लगाते हैं जो निरी कल्पना के सिवाय कुछ भी नहीं हैं। अनजान व्यक्ति मन्दिर के पास जाते हुए डर जाता है क्योंकि इसकी बाहरी संरचना ही ऐसी उबड़-खाबड़ है कि मानो इसकी ईंटें नीचे गिरने वाली हैं।

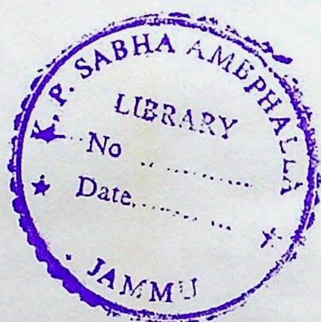
इसके भीतरी भाग को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि इसके निर्माण से पहले एक बहुत विशाल योजना बनाई गई होगी जो किसी कारण से कार्यान्वित नहीं की जा सकी होगी।

इस मन्दिर का गर्भ-गृह चतुष्कोण है जिसके ऊपर अत्यन्त सुन्दर गोलाकार शिखर हैं, जिसके ऊपर सुन्दर नक्काशी का काम किया हुआ है। मन्दिर की भीतरी दीवारों पर की गई नक्काशी कलाकार कल्पना शक्ति और बुद्धि कौशल की साक्षी है। इसके अतिरिक्त बिना किसी भवन निर्माण सामग्री के इतनी भारी-भारी शिलाओं को जोड़ना भी कम चमत्कारी काम नहीं है। मन्दिर के भीतर काले पत्थर से निर्मित शिवलिङ्ग तथा शिव पार्वती की मूर्तियां किंचित् मानावस्था में होने पर भी कलाकार के बुद्धि कौशल की गवाई देती हुई प्रतीत होती हैं।

इस मन्दिर के बारे में यह विश्वास है कि यदि इसकी कोई ईंट गिरे तो किसी अप्रिय घटना की सूचना होती है। या तो देश में कोई आपत्ति आती है या किसी महापुरुष की मृत्यु होती है।

इस मन्दिर के दर्शन के लिए केवल भक्तजन ही नहीं आते हैं अपितु स्थापत्य कला के पारखी, पुरातत्त्व वेत्ता तथा लेखक भी आते रहते हैं। वैशाखी पर्व पर यहां तीन दिन तक भारी मेला रहता है। इसके अतिरिक्त शिवरात्रि, मकर संक्रान्ति, सोमावती अमावस्या तथा प्रत्येक सोमवार के दिन भी यहां विशेष चहल-पहल रहती है। इनके अतिरिक्त-पुन्छ मंड में बुड्ढा अमरनाथ, भद्रवाह में कैलाश कुंड तथा पौनी पारख में शिवखोड़ी जैसे महत्वपूर्ण तीर्थ स्थल हैं जा कालान्तर से डुग्गर-जन मानस के आस्था-प्रतीक बने हुए हैं।







HAMARA SAHITYA—1987

Price : Rs. 23/-

Published by the Secretary on behalf of J & K Academy of Art, Culture & Languages, JAMMU & Printed at Rohini Printers, Kot Kishan Chand, JALANDHAR (Pb.)